संग्रहणीय अंक

गांधी-मार्ग

मई-जून 2019

हे राम!

अकथनीय सत्य का ताप

गांधी-मार्ग

अहिंसा-संस्कृति का द्वैमासिक

वर्ष 61, अंक 3, मई-जून 2019

गांधी शांति प्रतिष्ठान

223 दीनदयाल उपाध्याय मार्ग,

नई दिल्ली- 110002 के लिए अशोक कुमार द्वारा प्रकाशित

फोन : 011-2323 7491 | 2328 7493

Email: gmhindi@gmail.com

1. गांधी : अकथनीय सत्य का ताप — जेम्स डब्ल्यू., डगलस
2. गांधी-हत्या: छठी सफलता से पहले — कुमार प्रशांत

आवरण : मकबूल फिदा हुसैन के गांधी | हुसैन भारतीय परंपरा के गहन अभ्यासी कलाकार थे। एक अर्थ में गांधी और हुसैन एक ही जमीन पर खड़े मिलते हैं-- "अकथनीय' ताकतों को न गांधी सह्य हुए, न हुसैन ! एक को दुनिया छोड़नी पड़ी, दूसरे को देश! नाथूराम गोडसे की तीन गोलियां खाने के बाद की लड़खड़ाती गांधी की काया को आंकते हुए हुसैन उन अनगिनत घावों को नहीं भूले, जो हमने गांधी को भरपूर दिए- पूरी अवमानना और कठोरता से दिए और उन्होंने प्रेमपूर्वक उनको आत्मसात कर लिया। धूल-धूसरित रंगों के अनगिनत धब्बों-से उन घावों को हम उनकी भूलुंठित हो रही काया पर देख सकते हैं।

वार्षिक शुल्क : भारत में 200 रुपये, दो वर्ष के 850 रुपये, आजीवन-000 रुपये (व्यक्तिगत), 2000 रुपये (संस्थागत), एक प्रति का मूल्य 20 रुपये, डाक खर्च निःशुल्क | दो माह तक न मिलने पर शिकायत लिखें। शुल्क चेक, बैंक ड्राफ्ट, मनीऑर्डर द्वारा 'गांधी पीस फाउंडेशन' के नाम भेजें।

संपादन : कुमार प्रशांत **प्रबंध** : मनोज कुमार झा **प्रसार:** भगवान सिंह

शुरू में ...

वे एकदम दबे पांव कमरे में आए। ऐसे कि उनके आने से किसी को कोई खलल न पड़े। छोटा कद, उम्रसिद्ध काया, अनुभवसंपन्न चेहरा और छोटी पर भेदती आंखें ! देख कर ही लगे कि कोई है अलग-सा। साथ के लोगों ने परिचय कराया। वे किनारे वाली कुर्सी में बैठ गए। इस तरह बैठे कि जैसे बैठना भर था उन्हें लेकिन वे वहां थे नहीं। हमारी आपसी बातचीत हिंदी में हो रही थी जिसे न जानने पर भी वे न जानना चाहते थे, न जताना चाहते थे। अंग्रेजी में जब भी कुछ कहा मैंने, उन्हें बातचीत में शरीक करना चाहा तो उन्होंने उतना ही वक्त लिया और उतनी ही जगह घेरी जितनी निहायत जरूरी थी।... ऐसा ही लगता था मुझे जब भी 'अज्ञेय' से मिलता था।

ये जेम्स डब्ल्यू. डगलस थे। डगलस सक्रिय शांति के सिद्ध सिपाही हैं जिसने इराक, इजराइल और फिलिस्तीन की अशांति में लगातार वहां पहुंच-पहुंचकर हाथ डाला है; अपने देश अमरीका में हिंसा, आणविक हथियार, यौन शोषण व गैर-बराबरी के खिलाफ सक्रिय लड़ाई लड़ी है और जेल जाकर उसकी कीमत भी चुकाई है। वे अपने जैसी ही सक्रिय व बहादुर पत्नी शैली के साथ अमरीका के सबसे गरीब प्रांत अल्बामा की सबसे गरीब बस्ती में रहते हैं और निराश्रितों के लिए मेरी'ज हाउस नाम का घर/संस्था चलाते हैं। "तो आप शैली को साथ नहीं लाए ?" मेरे सवाल पर थोड़ा सकूचाते हुए डगलस बोले, "इस बार इतना ही पैसा बचा था कि हममें से कोई एक ही यहां आ सकता था। हमने सोचा, मैं चला जाता हूं, शैली अगले बरस आ जाएगी।... वैसे भी हम मेरी'ज हाउस एकदम अकेला नहीं छोड़ सकते ।"

अमरीका के छोटे-से शहर ब्रिटिश कोलंबिया में पले-बढ़े डगलस कैथलिक स्कूलों में पढ़े थे और आणविक मिसाइल उद्योग में काम करने का इरादा रखते थे । लेकिन ऐसा हो न सका। भीतर की कोई आवाज उन्हें यहां-वहां खींचती रही और अंततः वे पहुंचे डोरोथी डे के दायरे में । डोरोथी तब युद्ध व हिंसा के खिलाफ अमरीका की सबसे सशक्त आवाज बन चुकी थीं। युद्ध व आणविक हथियारों की मुखालफत करने वालों के साथ सड़कों पर उतरते हुए डगलस को एक रास्ता मिला, जो उन्हें ले आया थॉमस मेर्टन के पास- एक ईसाई साधु, शोधकर्ता लेखक और शांति के अनजाने रहस्यों की खोज में लगा साधक ! 60 के दशक में मेर्टन ने एक शब्द गढ़ा- अकथनीयः अनस्पीकेबल- और उससे शोध की एक धारा ही बनती चली गई। 60 के दशक में अमरीकी समाज का वह तबका, जिसे अपने देश की कुंडली बदलने की लगन लगी हुई थी और जो लगातार हिंसा की ताकतों को सवालों के घेरे में लेता रहता था, लगातार हुई चार राजनीतिक हत्याओं से दहल गया था। अमरीकी समाज का चेहरा ही अजनबी बन गया। जॉन एफ.

केनेडी, मार्टिन लूथर किंग जूनियर, मैल्कम एक्स तथा रॉबर्ट केनेडी की राजनीतिक हत्या से वह विमूढ़ हो गया। मेर्टन को लगा कि ये सभी हत्याएं जैसे किसी आवाज को रोकने के लिए, कुछ बोलने से लोगों को वंचित करने के लिए, कुछ छिपाने के लिए की गई हैं। ईसाई परंपरा जिस 'शैतान' की कल्पना करती है, मेर्टन को लगा कि इन हत्याओं के पीछे वही 'शैतान' अपना खेल खेल रहा है। यहां से 'अनस्पीकेबल' श्रृंखला की शुरुआत हुई। 2008 में डगलस ने इस श्रृंखला की अपनी पहली पुस्तक लिखी, जो राष्ट्रपति जॉन फिट्जराल्ड केनेडी की हत्या के पीछे की कहानी के बारे में थी । यही पढ़ते-लिखते डगलस गांधीजी की हत्या तक पहुंचे। यहां भी, इन पन्नों में भी उन्हें वे ही लोग, वे ही ताकतें मिलीं जो हत्या को ऐसा सच मानती हैं कि सच की हत्या करने से भी नहीं हिचकती हैं। फिर डगलस को एक सत्यानुभूति हुईः "परिणाम की परवाह किए बगैर अतल अंधकार में जितना उतर सकें हम उतना उतरें, और तब अचानक ही हमें मध्यरात्रि के अंधकार को बेधता वह सत्य मिलेगा जो हमें हिंसा के बंधनों से मुक्त कर, शांति के प्रकाश से आलोकित कर देगा ।" गांधीजी की हत्या के अंधकार में गहरे उतर कर डगलस को भी एक प्रकाश मिला जो ईसा से गांधी तक अटूट बहता है।

अब डगलस ने दूसरा "अनस्पीकेबल" लिखा- सत्य के साथ गांधी का अंतिम प्रयोग ! उन्होंने इतने ही प्यार-संभाल से, अपनी कुर्सी से उठकर अपनी वह किताब मुझे दी... जैसे किताब नहीं, विरासत दे रहे हों। किताब पर सुंदर, कोमल अक्षरों में लिखा उन्होंने : इन द नेम ऑफ पीस ऐंड फ्रेंडशिप !... शांति व दोस्ती के नाम !...डगलस का पूरा व्यक्तित्व बेहद पारदर्शी है- बहुत कुछ जयप्रकाश की तरह !

इस किताब में नया कुछ भी नहीं है- लेकिन यह बहुत नई नजर से लिखी गई है। मृत्यु से आदमी का रिश्ता; आदमी का सत्य से रिश्ता; सत्य का आदमी के होने से रिश्ता- कई स्तरों पर डगलस इन सबको जांचते हैं; और गांधी के जीवन में इसके सूत्र तलाशते हैं। गांधी मृत्यु के साथ अपना रिश्ता जिस तरह तय करते हैं, डगलस उसकी भी गहन पड़ताल करते हैं। डगलस ईसा से गहरे प्रभावित ईसाई हैं। वे गांधी में ईसा-तत्वों की तलाश करते हैं। गांधी भारतीय चिंतन व जीवन-परंपरा के अत्यंत मौलिक प्रतिनिधि हैं। इसलिए डगलस के 'अकथनीय' को कथनीय बनाने की चुनौती प्रेरणाजी ने स्वीकार की। गांधी अध्येताओं की हमारी युवा जमात में अपनी खास जगह रखने वाली प्रेरणा आधुनिक अर्थशास्त्र पर पूरी पकड़ रखती हैं; और गांधी में गहरी आस्था ! डगलस को पढ़ते हुए उन्होंने मुझसे बहुत सारे सवाल किए; बहुत सारे जवाब खोजे और फिर अपनी प्रेरणा से, डगलस की किताब का यह अपूर्व सार-संक्षेप लिखा । स्वाभाविक ही है कि इसमें डगलस के 'अकथनीय गांधी' तो हैं ही, प्रेरणा के भारतीय गांधी भी लगातार मौजूद हैं।

यह अंक एक दस्तावेज है- संभाल कर रखने लायक, बार-बार पढ़ने और बार-बार ग्रहण करने लायक । महात्मा गांधी की हत्या जिन ताकतों ने की और वे जिस सामाजिक-राजनीतिक दर्शन को मानते हैं, भारतीय समाज को वे जिस दिशा में ले जाना चाहते हैं, उसका एक ही हथियार है उनके पास- असत्य व भ्रम का घटाटोप रचना ! अक्सर यह घटाटोप इतना घना और व्यापक होता है कि हम भी इसमें उलझ या खो कर रह जाते हैं। ऐसा जब भी हो, यह अंक हमारी मदद करेगा और हम फिर-फिर अपना गांधी पा लेंगे, इस आशा व विश्वास के साथ यह अंक हम अपने पाठकों को अर्पित करते हैं।

कु. प्र.

गांधी : अकथनीय सत्य का ताप

० जेम्स डब्ल्यू. डगलस

60 के दशक में एक ख्रिस्ती संन्यासी लेखक हुआ था थॉमस मेर्टन । उसने जीवन को और उसके रहस्यों को जानने की बहुत कोशिश की; और फिर वह इस नतीजे पर पहुंचा कि हमारे पास सच्चाइयों का एक बहुत बड़ा जखीरा ऐसा है जिसे हम सब जानते तो हैं लेकिन उसकी चर्चा नहीं करते-अनकहा सच !! मेर्टन कहते हैं: यह वह सच है जिसे झेलने की सामर्थ्य हममें नहीं है- यह हमारे जीवन की, हमारी दुनिया की वह कड़वी सच्च्वाई है जिससे सभी मुंह चुराते हैं। यह डर या मुंह चुराना हमारे भीतर एक अंधकार का या शून्य का निर्माण करता है जिसकी गुमनामी में दूसरी सच्चाइयों का बार-बार कत्ल होता रहता है। यही कारण है कि हमारी दुनिया भीतर-ही-भीतर घायल व रक्तरंजित है।

यह अनकहा या अकथनीय क्या है ? मेर्टन कहते हैं: एक गहरा सन्नाटा रचा गया है जो सब कुछ लील जाता है। सरकारी घोषणा हो कि कानूनी फैसला कि कोई औपचारिक बयान कि ऐतिहासिक साक्ष्य, सब-के-सब खोखले जान पड़ते हैं क्योंकि सभी इस सन्नाटे में खो जाते हैं। यही सन्नाटा है कि जो हमें उस सूक्ष्म और शुद्ध सच्चाई का भान कराता है, जो सामने है पर अनकहा या अकथनीय है। ऐसा क्यों है ? उनका जवाब है: "क्योंकि हम उस सच को बोलने के बाद के परिणाम से डरते हैं।" तो फिर यह जरूरी ही क्यों है कि हम उस अनकहे का सामना करें ? वे फिर जवाब देते हैं: "क्योंकि उस अनकहे से पैदा हुए अंधकार के गर्भ में अनेक अमंगल तत्व पनपते हैं। असत्य की शक्तियां समाज के सच न बोल पाने, सच का सामना न कर सकने की कमजोरी का फायदा उठाती हैं और समाज को कायर, छल-कपट और धोखे से भरी भीड़ में बदल देती हैं। यह समाज का ऐसा नुकसान है, पतन है कि जिसका शब्दों में वर्णन असंभव है।" यह कायर अनकहा सच वहां विएतनाम में, वहां नाजियों के जुल्म में, कभी सारे संसार में जिसने जहर घोल रखा था उस शीतयुद्ध में या आज जो सबकी गरदन पर सवार है उस आतंकवाद में-हर कहीं जड़ जमाए बैठा है। यह हमें चुनौती देता है कि कह सको तो यह सच दुनिया से कहो।

अमरीकी लेखक व इतिहास के शोधकर्ता जेम्स डब्ल्यू. डगलस के साथ भी ऐसा ही हुआ: "तब मैं अपने देश अमरीका में हुई बेहद सर्द, संगीन लेकिन बेहद हैरान करने वाली चार हत्याओं के कारणों की तलाश में लगा था। ये हत्याएं थीं जॉन एफ. केनेडी, मार्टिन लूथर किंग जूनियर, माल्कम एक्स तथा रॉबर्ट एफ. केनेडी की। इन चारों को 60 के दशक में, कोई साढ़े चार साल के अंतराल में गोली मार दी गई थी। अगर मैं कहूं कि इन हत्याओं ने अमरीका के राजनीतिक और आध्यात्मिक परिदृश्य को हमेशा-हमेशा के लिए

बदल दिया और लोकतंत्र के नाम पर हमारे हाथ बचा रह गया एक छूंछा, दिखावटी तमाशा भर, तो गलत नहीं होगा। इन चारों की योजनाबद्ध हत्या के पीछे की कड़ियां जब मैं जोड़ने में लगा था तब एक हैरतअंगेज तथ्य ने मेरा ध्यान खींच लिया। इन चारों हत्याओं के पीछे कैसी दहला देने वाली समानता थी ! और समानता दोनों तरफ थी-जिनकी हत्या हुई उनमें भी और जो हत्यारे थे उनमें भी।"

वह 60 का दशक था। संसार दो महाशक्तियों के बीच के शीतयुद्ध में फंसा कराह रहा था। अमरीका और रूस के बीच का तनाव उस बिंदु पर जा पहुंचा था कि जहां से उसे विस्फोट ही करना था। अक्तूबर 1962 | रूस ने क्यूबा में अपनी मिसाइलें तैनात कर दी थीं, जिनकी सीधी जद में अमरीका आता था। यह अमरीका की नाक का भी और सुरक्षा का भी सवाल था। दोनों महाशक्तियां थीं और दोनों परमाणु हथियारों से लैस थीं। संसार अणुयुद्ध के कगार पर पहुंच गया। बस होने को ही था एक ऐसा अणु धमाका जो हिरोशिमा में हुए धमाके से कई-कई गुना ज्यादा बड़ा होता। अमरीका में पेंटागन के अधिकारियों की घड़ी टिक-टिक करती बढ़ती जा रही थी- संसार का विनाश करीब-से-करीब आता जा रहा था। आधी रात का सन्नाटा था। अमरीकी राष्ट्रपति जॉन केनेडी गहरे दबाव में थे और दबाव के उस अंधेरे में कुछ टटोल रहे थे... कि तभी संयुक्त अमरीकी सैन्य कमान के उनके प्रमुख अधिकारी ने उन्हें सीधी और सुनिश्चित सलाह दीः "श्रीमान्, हमें अभी-के-अभी रूसी मिसाइलों पर हमला कर देना चाहिए, हमारा अचानक हमला उन्हें संभलने का कोई मौका नहीं देगा !" राष्ट्रपति का यह एक आदेश संसार के खात्मे का रास्ता खोल देता। हालात ऐसे थे कि राष्ट्रपति केनेडी उस दबाव के आगे झुक ही सकते थे... लेकिन वे झुके नहीं। उन्होंने अपने सैन्य अधिकारी को परे कर दिया, उस दारुण दबाव को ठेल कर आगे आए और शीतयुद्ध के अपने सबसे बड़े प्रतिद्वंद्वी रूसी प्रधानमंत्री निकिता ख्रूश्चेव से सीधी बात कीः "प्रधानमंत्री महोदय, यह जरूरी है कि अपनी सफलता के उन्माद से बाहर आकर, हम दोनों अपनी निर्णायक अंतिम विफलता से बचें और संसार को अपरिमित विनाश से बचा लें !" केनेडी ने कहा, ख्रूश्चेव ने सुना... और सारा संसार अंतिम विनाश के कगार से वापस लौट आया।...

कई लोगों को यह नागवार गुजरा। सरासर राष्ट्रद्रोह !... राष्ट्रपति केनेडी का यही फैसला था जो उन्हें डलास की उन अभागी सड़कों पर ले गया, जहां गोलियों ने उन्हें छलनी कर दिया था।

"उस घटना के चार दशक बाद जब मैं केनेडी और ख्रूश्चेव के बीच हुए संवादों का अध्ययन कर रहा था, तब, सच कहता हूं कि तब मैं 'अंतिम क्षण के विवेक को' समझ पाया जिसे जीसस ने अपने खरे शब्दों में कहा था : 'अपने शत्रु को प्यार करो !'... कितना बड़ा सत्य था यह !! इस छोटे-से वाक्य के अपार नैतिक बल ने उस दिन दुनिया को बचा लिया और युद्ध के दो सबसे बड़े पैरोकार शांति के दूत बन गए। भय के

चरम में कहें कि आशा के चरम में, हुआ तो यह कि केनेडी और ख्रूश्चेव ने वह किया जो संसार की शांति व अस्तित्व के लिए उनको (और हमें भी !) करने की सीख यीशु ने दी थी और अपने लिए (और हमारे लिए) 'वह महान पुण्य' अर्जित करने को कहा था। केनेडी की हत्या इसी वजह से होती है कि वे परिणाम की परवाह किए बगैर बार-बार शांति की तरफ लौटते हैं। वे यीशु के उस प्राचीन निर्देश का पालन करते हैं कि जो कहता है कि शत्रु रोम का हो कि रूस का, हमें ईमानदारी से, भावुकता में बहे बिना उसे प्यार ही करना है- क्योंकि इसी में सबका भला है !"

गांधीजी उनके इसी प्राचीन निर्देश को 'सत्याग्रह' कहते हैं- सत्य की ताकत या आत्मा की ताकत ! मेर्टन कहते हैं कि यही ताकत है जिससे उस अकथनीय सत्य का मुकाबला किया जा सकता है। वे कहते हैं कि गांधीजी की धार्मिक-राजनीतिक कार्यपद्धति मनुष्य के उस प्राचीन तत्वज्ञान पर आधारित है जो सभी धर्मों में समान है, फिर चाहे वह हिंदू धर्म हो कि बौद्ध कि ईसाई कि इस्लाम कि यहूदी-"सत्य ही हम सबके होने का औचित्य है।" और इसी सत्य की दूसरी तरफ प्रेम है। मेर्टन कहते हैं कि सांस्कृतिक विकास के क्रम में मनुष्य जैसे-जैसे गहरे मानवीय मूल्यों की तरफ बढ़ता है, हमारे भीतर छिपी करुणा हमें उस अनकहे सत्य के सामने ला खड़ा करती है- इसका सामना करो !

जेम्स डगलस कहते हैं कि इस 'अकथनीय सत्य' का अस्तित्व केवल अमरीकी समाज में नहीं है। वह भारतीय समाज में भी, गांधीजी की हत्या में भी साफ-साफ मौजूद है। वह सरकारी और संगठित ताकतों के साये में हमेशा मौजूद रहता है। वे बताते हैं कि स्वतंत्र भारत अपने जन्म से ही अणुबम से लैस लोकतंत्र का सपना लेकर चला है। अणुबम की आकांक्षा के साये में जीता भारतीय लोकतंत्र एक रक्तपिपासु ढकोसले के रूप में आज गहरे पतन तक पहुंचा है। अमरीका में यह पहले ही हो गया था - 60 के दशक में ! अमरीकी लोकतंत्र में की गई हत्याओं में जो सत्य दीखता है, उसके बारे में यहां बोला जाने वाला झूठ इतना पारदर्शी है कि आप बिना कहे ही सब कुछ समझ जाते हैं। हम सरकारी बयानों, घोषणाओं में उस अनकहे सच को साफ-साफ देख पाते हैं। हम हर पल, हर जगह उस अनकहे को, उस सन्नाटे को पहचान पाते हैं और यह भी समझ पाते हैं कि इस सन्नाटे में किस तरह भयानक हत्याएं रची जा सकती हैं, की जा सकती हैं, और फिर उसी सन्नाटे में सब कुछ दबा दिया जा सकता है।

जेम्स डगलस केनेडी की हत्या के सच तक पहुंच कर जब अवाक् रह जाते हैं तब वे गांधीजी की हत्या की तरफ मुड़ते हैं। अपनी खोजबीन करते हैं और फिर उस सच से रू-ब-रू होते हैं जो हमारे बीच हमेशा से मौजूद रहा पर जिसे बोलने की हिम्मत हम नहीं कर पाए; और तरह-तरह के शोर में सबने उसे ढक दिया। जेम्स डगलस को अभी-अभी जनमे लोकतांत्रिक भारत में, सत्ता की बेलगाम भूख दिखाई देती

है। वे कहते हैं कि केनेडी की तरह ही गांधीजी भी लोकतंत्र विरोधी ताकतों द्वारा मार दिए गए, और केनेडी की तरह ही इस हत्या के पीछे के अशुभ खेल को छिपा दिया गया। देश की आजादी के बाद उन सारी ताकतों ने गांधीजी की हत्या की, जो गांधीजी के और उनके अहिंसक लोकतंत्र की कल्पना के विरोध में थे।

खूनी असत्य का अंधेरा

जेम्स का मानना है कि अपने वक्त के उस खूनी असत्य के अंधेरे घटाटोप को भेदने अंततः गांधीजी खुद ही आगे बढ़ते हैं। इसकी तैयारी वे अपनी उम्र की आधी सदी से अंत तक करते दिखाई देते हैं। गांधीजी अपने हत्यारे से भी प्रेम से मिलना चाहते हैं; और यही एकमात्र तरीका है इस अकथनीय से मुकाबला करने का | जेम्स अपनी किताब के शुरू में ही पाठकों को आगाह करते हैं कि यह किताब गांधीजी की मौत का उत्सव मनाती है; वह मौत, जिसकी अहिंसक तैयारी वे ता-उम्र करते रहे थे। गांधीजी खुद को बार-बार मांजते हैं, जांचते हैं कि वे हिंसा के हाथों मौत का अहिंसक सामना करने की साधना में कहां तक पहुंचे हैं। हिंसा से रक्तरंजित दुनिया की मुक्ति इसी साहस से संभव है और यही उनके महात्मा होने की कसौटी भी है। यह किसी दूसरे ने नहीं, उन्होंने खुद ही बताया था।

गांधी-हत्या की कहानी और उनके हत्यारों पर चले मुकदमों के विवरण से हम यह जान पाते हैं कि यह कहानी अभी खत्म नहीं हुई है । जिन ताकतों ने उनकी हत्या की, वे उस हत्या के पर्दे में अब उनके चारित्र्य की, उनके विचारों पर आधारित समाज की संरचना की हत्या करने में लगे हैं। 21वीं सदी में भारतीय लोकतंत्र के लिए यही ताकतें सबसे बड़ा खतरा खड़ा करती हैं। लेकिन जेम्स इस आशा का पल्ला कभी छोड़ते नहीं हैं कि जब तक हम इस 'अकथनीय सत्य' का मुकाबला गांधीजी की ही तरह प्रेम और सत्याग्रह से करते रहेंगे, तब तक हम खुद को भी, भारत को भी और इसी रास्ते संसार को भी ज्यादा मानवीय व सुसंस्कृत बनाते रह सकेंगे।

यह इस किताब का सार भर है, न कि उसका भाषांतर। इस किताब से दो तार्किक बातें निकलती हैं जिन्हें लेकर मैं आगे चलूंगी।

पहली बात है गांधी-हत्या !

इस पर कई लोगों ने लिखा है। डगलस के शब्दों में कहूं तो यह वह सच है जो हमारे सामने हमेशा रहा है, सबको दीखता भी रहा है पर सभी उसे बोलने में असमर्थ रहे हैं, क्योंकि उसके बोलने के परिणाम से सब डरते हैं। इस किताब में बहुत ही तार्किक तरीके से गांधी-हत्या की साजिश को और उसके विभिन्न

पहलुओं को सामने लाया गया है। यह किताब इसलिए भी बहुत मजबूत, बहुत प्रभावी बन जाती है और गहरा घाव करती है क्योंकि डगलस हमारे पूरे संदर्भ से असंबंधित, एक निखालिस विदेशी व्यक्ति हैं। व्यक्तियों, संदर्भों, सबूतों तथा विचारधाराओं की जांच का उनका तरीका जितना ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित है, उतना ही कठोर व निःसंग भी है।

इस किताब का दूसरा महत्वपूर्ण पक्ष है अहिंसा के संदर्भ में मृत्यु को लेकर गांधीजी का नजरिया!

"जिस तरह हिंसक लड़ाई में दूसरों की जान लेने का प्रशिक्षण देना और लेना पड़ता है, अहिंसक लड़ाई में ठीक उसी तरह खुद की जान देने के लिए खुद को प्रशिक्षित करना पड़ता है।" गांधीजी ने अपने हत्यारे का जिस तरह प्रेमपूर्वक सामना किया, वही थी गांधीजी की आखिरी वसीयत- संसार को अहिंसा के चरम की भेंट! सत्य के अगिनत प्रयोगों से भरे जीवन का वह अंतिम प्रयोग था!

गांधी-विचार के कई पहलुओं को डगलस जिस तरह समझते हैं, वह विरल है और उम्मीदों से भरा है। डगलस मानते हैं कि गांधीजी को समझना और उनके विचारों पर नये भारत की रचना करना भारतीयों के लिए सबसे आसान इसलिए है और रहेगा क्योंकि वे इसी जमीन व संस्कृति की विरासत लेकर पैदा हुए हैं। डगलस यह भी कहते हैं कि आज गांधीजी के 150 साल के बाद भारत भले उनके रास्तों से बहुत दूर होता जा रहा है, दुनिया उस रास्ते की तरफ देख रही है और उसके करीब आ रही है।

जीवन और मृत्यु के बीज

डगलस मानते हैं कि भारत की स्वतंत्रता की लड़ाई को गांधीजी ने जिस तरह निर्देशित व संचालित किया उसने उनकी हत्या को आसान बना दिया। हत्या के बाद आजाद देश के चुने नेताओं के लिए यह बहुत आसान हो गया कि वे अपने राष्ट्रपिता के अहिंसा के सिद्धांत को दरकिनार कर दें और एक हिंसक समाज की रचना के सूत्र संभालकर आगे चल पड़ें । जापान का हिरोशिमा जब अणुबम से तबाह किया गया तब गांधीजी ने कहा, "मुझे इस बात से कोई धक्का नहीं लगा, उलटे मैंने अपने आपसे कहा कि यदि लोग अब भी अहिंसा को नहीं अपनाते हैं तो वे निश्चित ही मानवता को आत्मघाती रास्ते पर धकेल रहे हैं। मैं सबसे कहना चाहता हूं कि अहिंसा ही एक चीज है जिसे अणुबम भी नहीं मिटा सकता।" लेकिन आजाद देश के नेताओं ने, आजादी के तुरंत बाद ही गांधीजी की इस अटल आस्था के विरुद्ध सैन्य-शक्ति पर आधारित एक राष्ट्रवादी देश की नींव रखी। स्वतंत्रता के इसी गहराते अंधेरे में गांधीजी शहीद हुए। उनकी शहादत उस अंधकारमय शून्य में घिरी है, जो सच न कह पाने के कारण आज भी बना हुआ है- अनकहा सच!! अकथनीय- अनस्पीकेबल!

मोहनदास करमचंद गांधीजी ने 1890 के दशक में दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह को खोजा, समझा, सीखा और खुद भी तथा अपने साथियों को भी उसमें प्रशिक्षित करना शुरू किया। वे जैसे-जैसे इस रहस्य की गहराई में उतरते गए, जीवन व मृत्यु को देखने की उनकी एक नई नजर बनती गई। वे लिखते हैं, “जिस तरह हिंसक लड़ाई में जान लेने का प्रशिक्षण लेना पड़ता है उसी तरह अहिंसक लड़ाई में खुद की जान देने के लिए प्रशिक्षित होना पड़ता है।”

1896 के जनवरी महीने में, छह महीने की भारत-यात्रा के बाद गांधीजी सपरिवार दक्षिण अफ्रीका लौटे। भारत में उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में रहने वाले भारतीयों के साथ हो रहे भेदभाव के बारे में सबको बताया। इस बारे में उन्होंने जो पर्चा लिखा और जिसे भारत में बांटा गया, उसे तोड़-मरोड़ कर दक्षिण अफ्रीका में, नटाल के अखबारों ने छापा। उससे दक्षिण अफ्रीकी गोरे भड़के उठे। वहां के अखबारों ने यह झूठी खबर भी छाप दी कि गांधीजी अपने साथ 500 भारतीयों को, दो जहाजों में भरकर दक्षिण अफ्रीका ला रहे हैं ताकि दक्षिण अफ्रीका के गोरों का मुकाबला किया जा सके। वे दक्षिण अफ्रीका को भारतीयों से भर देना चाहते हैं। स्वाभाविक था कि क्रोध और भी भड़का। प्रतिक्रिया में दक्षिण अफ्रीका में कई ऐसे संगठन उभर आए जिनका एकमात्र उद्देश्य भारतीयों के इस संभावित हमले का सामना करना था। 18 दिसंबर 1896 को गांधीजी का जहाज नटाल के डरबन बंदरगाह पर पहुंचा। नटाल के प्रधानमंत्री तब बीमार थे। कार्यकारी प्रधानमंत्री थे अटॉर्नी जनरल हैरी एस्कोंब। वे भारतीयों के विरोधी थे। उन्होंने अफवाह फैलाने वालों की मदद की। भारतीय यात्रियों की वजह से शहर में प्लेग रोग फैल जाएगा, यह भय दिखाकर उन्होंने यात्रियों को तीन सप्ताह तक जहाज से उतरने की इजाजत नहीं दी। यह भी धमकी दी गई कि हम यात्रियों को वापस भारत या फिर कहीं और पहुंचा देंगे। लेकिन सच तो यह था कि जहाज में सवार ज्यादातर लोग दक्षिण अफ्रीका के वैध नागरिक थे, जो अपने घरों को लौट रहे थे- और गांधीजी भी तो यही कर रहे थे!

एस्कोंब ने ऐसा क्यों किया ? जवाब सीधा है कि उसकी नजर आने वाले चुनावों पर थी। कहते हैं कि एस्कोंब ने गोरों की उन्मत्त भीड़ से कह रखा था कि जहाज से उतरने वाले भारतीयों के साथ वे जो करना चाहे करें, पुलिस उनके खिलाफ कोई कार्रवाई नहीं करेगी। बंदरगाह पर इकट्ठी उन्मत्त भीड़ के डर से सभी भारतीय उस भयानक ठंड में भी जहाज में ही बैठे रहे और गांधीजी सारे वक्त उनका मनोबल बढ़ाते रहे। ऐसे में ही क्रिसमस आया। जहाज के कप्तान ने गांधीजी और उनके परिवार के सम्मान में जहाज पर ही रात्रि भोज का आयोजन किया। उस अवसर पर गांधीजी ने जहाज के भारतीयों को संबोधित किया और कहा, “आज की परिस्थिति की जिम्मेवार पश्चिम की संस्कृति है, जो हमारी पूरब की संस्कृति से

अलग, पशुबल पर आधारित है।" जहाज के कप्तान ने गांधीजी को चुनौती दी और कहा कि जब आप इस जहाज से उतरोगे और बंदरगाह पर खड़े गोरे आप पर हमला कर देंगे तो आप अपने अहिंसा के सिद्धांत पर किस तरह डटे रहोगे ? गांधीजी ने जवाब दिया, "मेरा विश्वास है कि ईश्वर मुझे भीड़ के सामने खड़े रहने की हिम्मत देंगे, और मैं कानून का सहारा लिये बिना उन्हें माफ कर सकूंगा। मैं जानता हूं कि यह भीड़ अफवाह फैला कर जुटाई गई है और झूठी बातों से उत्तेजित की गई है। ये लोग ऐसा इसलिए कर रहे हैं क्योंकि उन्हें बताया गया है कि वे जो कर रहे हैं, सही कर रहे हैं। अज्ञानवश उत्तेजित लोगों से मेरे नाराज होने की कोई वजह नहीं है।"

सब टूट पड़े !

आखिरकार 13 जनवरी को, 26 दिनों की प्रतीक्षा के बाद यात्रियों को जहाज से उतरने की इजाजत मिली। अब तक जनरल एस्कोंब को लग गया था कि बात बिगड़ रही है और हाथ से बाहर जा सकती है। इसलिए वे भीड़ से मिले और उसे आश्वस्त किया कि सरकार उनकी मांगों पर ध्यान देगी और भारतीयों के दक्षिण अफ्रीका आने पर कानूनी पाबंदी लाएगी। इस तरह भीड़ को तितर-बितर करने में एस्कोंब कामयाब रहे। उन्होंने गांधीजी को संदेश भिजवाया कि वे अंधेरा होने पर ही जहाज से निकलें और हम उन्हें पुलिस के संरक्षण में घर पहुंचा देंगे। जाहिर था कि गांधीजी ने इस तरह चोरी-छिपे शहर में जाने से मना कर दिया। वे दोपहर बाद जहाज से निडरता से निकले। लेकिन भीड़ ने 'बदमाश गांधी' को तुरंत पहचान लिया और बिखर गई भीड़ देखते-ही-देखते फिर से जमा हो गई। गांधीजी और उनके साथियों पर पत्थर बरसे | गांधीजी के एक साथी ने रिक्शा रोकने की कोशिश की लेकिन रिक्शेवाला उत्तेजित भीड़ देखकर भाग गया। संकट की उस घड़ी में भी, जब उनकी जान भी जा सकती थी, गांधीजी ने भगवान का शुक्रिया किया कि वह रिक्शेवाला भाग गया क्योंकि इंसान द्वारा खींचे जाने वाले रिक्शे में बैठना उन्हें सख्त नापसंद था। इस मार-पीट में गांधीजी और उनके साथी बिछड़ गए। लोग गांधीजी पर टूट पड़े- घूसों और लातों से पूरी कुटाई हुई। गांधीजी बेहोश हो गए। उन्होंने जिंदा घर लौटने की उम्मीद छोड़ दी। वे लिखते हैं, "उस वक्त भी मेरे हृदय में मारने वालों के प्रति कोई द्वेष नहीं था।" डरबन के पुलिस सुपरिंटेंडेंट की पत्नी श्रीमती जेन एलेग्जेंडर, जो गांधीजी को पहले से जानती थीं, उसी समय वहां से गुजर रही थीं। उन्होंने गांधीजी की अंधाधुंध पिटाई देखी तो अपनी गाड़ी से उतरकर, अपने छाते से मारने वालों को रोका और पुलिस वालों को गांधीजी को अपने घेरे में लेने को कहा। पुलिस ने वैसा ही किया और उन्हें थाने ले गई। भीड़ भी पीछे-पीछे थाने तक आई। अंधेरा होते-होते लगभग पांच हजार लोग इकठ्ठा हो गए। सब चिल्ला रहे थे कि गांधीजी को हमारे हवाले करो वरना हम थाने को आग लगा देंगे। पुलिस अधिकारी ने गांधीजी को उनके

मित्रों, परिवार की जान का वास्ता दिया तब कहीं जाकर वे चोरी-छिपे वहां से निकलने को तैयार हुए। अभी कुछ दिन पहले तक यह हाल था कि पुलिस सुपरिंटेंडेंट एलेग्जेंडर गांधीजी का और भारतीयों का घोर विरोधी था। उसके लिए ज्यादातर भारतीय हिंसक कुली भर थे लेकिन गांधीजी से जैसे-जैसे उसका साबका पड़ा, वह बदलने लगा। वह गांधीजी से सहानुभूति रखने लगा। उनका समर्थक भी बना और आज संकट के समय उसकी पत्नी जेन एलेग्जेंड' ने उनकी जान भी बचाई।

घटना की जानकारी ब्रिटेन पहुंची । ब्रिटिश जानते थे कि भारत उनके उपनिवेशों का एक अहम व प्रभावी देश है और गांधीजी उसके एक जाने-माने नेता हैं। वे भारतीयों को नाराज करना नहीं चाहते थे। उनका दबाव पड़ा और बड़े बेमन से एस्कोंब ने अपराधियों की शिनाख्त के लिए गांधीजी को पुलिस थाने बुलाया। गांधीजी ने जवाब दिया, "मैं इस मामले को आगे नहीं बढ़ाऊंगा। मैं मानता हूं कि जिन पर उपद्रव का आरोप है, गलती उन लोगों की नहीं थी। उन्हें तो नटाल के नेताओं ने और यहां की यूरोपियन सरकार ने गलत जानकारी देकर भड़काया था। गांधीजी का इशारा किधर है यह एस्कोंब समझ रहे थे लेकिन वे यह भी समझ रहे थे कि अपनी तरफ से कोई कार्यवाही न करके गांधीजी उठने वाले तूफान से उन्हें बचा भी रहे थे; वह भी एक ऐसे तूफान से जो एस्कोंब ने खुद ही खड़ा किया था ! इस पूरे घटनाक्रम का सिंहावलोकन करते हुए गांधीजी ने बाद में लिखा, "ईश्वर मुझे सत्याग्रह के लिए तैयार कर रहा था।" हम याद रखें 'सत्याग्रह' शब्द की खोज भी इसी दक्षिण अफ्रीका के संघर्ष के दौरान हुई थी।

मौत का दूसरा वार

हिंसक मौत के साथ गांधीजी का दूसरा सामना भी दक्षिण अफ्रीका में ही हुआ। तब तक मौत को कैसे गले लगाना है, इस बारे में गांधीजी का सोच कई कदम आगे जा चुका था। अब वे जहां खड़े थे वहां 'राम का नाम' मुंह पर होना उनकी पहली और अंतिम कसौटी बन चुका था। इसलिए यह दूसरा वाकया गांधीजी को उनकी साधना की दिशा में और आगे पहुंचाता है। इस बार जो हमला हुआ वह गोरों या उनकी सरकार द्वारा नहीं किया गया था, यह हमला उनके अपने ही एक साथी ने किया था।

वाकया 1907 का है। ट्रांसवाल सरकार ने एशियाइयों के पंजीकरण का एक कानून बनाया था जिसका भारतीय विरोध कर रहे थे। इस कानून के तहत सभी एशियाइयों को अपनी उंगलियों के निशान देना जरूरी था और अपने साथ हर वक्त एक पहचान-पत्र रखना अनिवार्य था। इस बार गांधीजी के सामने थे जनरल स्मट्स। अपने नेता बैरिस्टर मोहनदास गांधी के आह्वान पर ट्रांसवाल में रहने वाले 13,000 भारतीयों ने अपना पंजीकरण कराने से इनकार कर दिया। स्मट्स सरकार ने जवाब में बैरिस्टर गांधीजी को दो महीने के लिए जेल में डाल दिया। यह गांधीजी की पहली जेल-यात्रा थी।

जनरल स्मट्स जानते थे कि भारतीयों का बहुमत गांधीजी के साथ है। जेल गए गांधीजी को दो सप्ताह ही हुए थे कि जनरल स्मट्स ने समझौता करने के इरादे से गांधीजी को जैल से निकलवाया और अपनी ऑफिस में मिलने बुलवाया। जेल के ही कपड़ों में गांधीजी जनरल स्मट्स से मिलने शहर के उनके कार्यालय पहुंचे। जनरल स्मट्स ने गांधीजी को भरोसा दिलाया कि यदि सारे भारतीय स्वेच्छा से अपना पंजीकरण करवाएंगे तो कुछ दिनों बाद सरकार स्वयं ही इस कानून को रद्द कर देगी। सत्याग्रह का यह शील तब ही गांधीजी के मन में बन चुका था कि अपने विरोधी पर पूरा भरोसा करो ! वही उन्होंने किया। स्मट्स ने गांधीजी को वहीं से, अपने दफ्तर से ही रिहा कर दिया। गांधीजी के पास तो ट्रेन से लौटने का पैसा भी नहीं था। उन्होंने वह पैसा जनरल स्मट्स से ही मांग लिया। हाल यह था कि जनरल की जेब भी खाली थी। उन्होंने अपने सेक्रेटरी से पैसा लेकर गांधीजी को विदा किया।

रिहा होकर रात 9 बजे गांधीजी जोहानिसबर्ग पहुंचे। मध्य रात्रि में ही उन्होंने अपने सारे साथियों को बुलाया और जनरल से हुए समझौते का पूरा ब्यौरा उन्हें बताया। साथियों ने अपनी शंका जाहिर की: “क्या होगा अगर बाद में जनरल स्मट्स मुकर जाएं ? यदि हमने पंजीकरण करवा लिया तो हमारे हाथ में दूसरा कुछ बचेगा ही नहीं !!” गांधीजी ने उनकी आशंका को वाजिब माना लेकिन अपने साथियों को यह भी समझाया कि एक सत्याग्रही को अपने विरोधी पर भरोसा करके ही चलना चाहिए। उन्होंने कहा कि सत्याग्रही कभी नहीं डरता है और इसलिए वह अपने दुश्मन पर भी भरोसा कर सकता है। धोखा खाने के बाद भी एक सच्चा सत्याग्रही फिर-फिर भरोसा करेगा, क्योंकि मनुष्य में छिपी अच्छाई पर उसका अडिग विश्वास होता है। और फिर गांधीजी समझाते हैं कि सरकार पर भरोसा करने का मतलब यह नहीं कि हम असहकार का अपना अधिकार किसी भी हाल में छोड़ रहे हैं। गांधीजी अपने साथियों को अपनी बात समझा तो पाए पर आने वाले तूफान से वे अनजान थे। यह बात जंगल में आग की तरह फैल गई कि उनका नेता कोई संदेहात्मक समझौता करके आया है। गांधीजी से जवाब-तलब करने के लिए तुरंत उसी मस्जिद के प्रांगण में लगभग 1000 लोग जमा हो गए। लालटेन की हल्की रोशनी में गांधीजी अपने उत्तेजित साथियों को समझा रहे थे कि क्यों अब हमें वही करना पड़ेगा जो कभी नहीं करने की बात कह कर हम लड़ रहे थे। “क्यों असहयोग की लड़ाई में यह अचानक ही सहयोग की बात आ गई ?” श्रोताओं में से मीर आलम ने पूछा। फिर उन्होंने गांधीजी पर आरोप लगाया कि 15 हजार पौंड की घूस के एवज में गांधीजी सरकार के हाथों बिक गए हैं। उसने यह धमकी भी दे डाली कि जो कोई भी पंजीकरण कराने जाएगा, उसे वह जान से मार देगा। गांधीजी सबको अपनी बात समझाते रहे और आखिर में बोले, “यह समझौता मैंने किया है इसलिए मेरा यह नैतिक फर्ज है कि सबसे पहले हाथों के निशान देने और पंजीकरण कराने

मैं खुद जाऊं। मैं भगवान से प्रार्थना करूंगा कि वह मुझे यह काम पूरा करने दे। मरना तो सभी को एक दिन है लेकिन अपने भाई के हाथों मरना किसी भी बीमारी से मरने से कहीं बेहतर है।"

10 फरवरी 1908 का दिन पंजीकरण के लिए मुकर्रर था। गांधीजी अपने साथियों के साथ पंजीकरण करवाने के लिए अपनी कंपनी से बाहर निकले। मीर आलम कुछ लोगों के साथ वहां पहले से खड़ा था। उसकी आंखें गुस्से से लाल थीं। गांधीजी आगे बढ़े तो मीर ने उनका रास्ता रोका और पूछाः कहां जा रहे हो ? गांधीजी ने कहा कि पंजीकरण कराने जा रहा हूं, "तुम भी चलो, पहले तुम्हारा करवाऊंगा और फिर अपना भी।" बात अभी पूरी भी नहीं हुई थी कि गांधीजी के सिर पर जोरों का एक डंडा पड़ा। वे गिर पड़े। गिरते-गिरते उनके मुख से निकला 'हे राम' ...और वे बेहोश हो गए। मीर और उसके आदमी गांधीजी को डंडों, लातों और घूसों से मारते रहे । वे गांधीजी को मार डालने के इरादे से ही आए थे। गांधीजी के जिन भी साथियों ने उन्हें बचाने की कोशिश की, उन सबकी भी खूब पिटाई हुई। जब मारने वालों को लगा कि गांधीजी मर गए हैं तो वे वहां से भाग निकले। ऐसी बेरहम मार पड़ी थी कि गांधीजी के सहयोगी थंबी नायडू को ता-उम्र चक्कर ही आते रहे।

रामनाम का जादू

मरते वक्त भी अपने मुख पर गांधीजी जिस रामनाम को रखना चाहते थे वह उनके पास कहां से आया ? अपनी आत्मकथा में वे लिखते हैं कि बचपन में उनकी दाई रंभा ने उन्हें अंधेरे से लगने वाले डर का सामना करने के लिए रामनाम का मंत्र दिया था। बचपन में सीखा वह मंत्र जीवन भर उनके साथ रहा- मरते दम तक ! गांधीजी ने इस बारे में कहा, "बचपन में मिली यह सीख हृदय में बस गई। इस रामनाम ने जीवन के अंधकारमय समयों में सूर्य के प्रकाश-सा काम किया है। मेरे लिए रामनाम ने जो काम किया वही काम एक ईसाई के लिए यीशु का नाम कर सकता है, वैसा ही असर किसी मुसलमान पर अल्लाह के नाम का हो सकता है....पर सिर्फ नाम रटना पर्याप्त नहीं है, हमारे रोम-रोम में यह नाम बस जाना चाहिए।"

बेहोश गांधीजी को जब होश आया तो उन्होंने साथियों से पहली बात यह कही कि मैं ठीक हूं; दांत और पसली में दर्द है। फिर पूछा, "लेकिन मीर आलम कहां है ?" बताया गया कि उन सबको गिरफ्तार कर लिया गया है, तो वे तुरंत बोले, "यह तो ठीक नहीं हुआ ! उन सबको छुड़ाना होगा।" एक तरफ उनकी मरहम-पट्टी की जा रही थी, तो दूसरी तरफ उनकी जिद थी कि पहले पंजीकरण हो, जिसका उन्होंने वचन दिया है। मीर आलम और उनके साथियों पर किसी तरह का आरोप लगाने से गांधीजी ने इनकार

कर दिया। हमला सार्वजनिक हुआ था, सो गुनहगारों को सजा तो हुई लेकिन जख्मों के कारण बोल नहीं पा रहे गांधीजी ने सरकार को लिख कर दिया कि मीर आलम वही कर रहे थे जो उन्हें सच लग रहा था।

मीर आलम ने गांधीजी को जान से मारने का अपना वचन निभाया, जनरल स्मट्स अपने वचन से मुकर गए। उलटे एशियाइयों के खिलाफ वे एक और कड़ा कानून लेकर आए। अब गांधीजी ने आंदोलन का दूसरा रास्ता निकाला। 16 अगस्त 1908 को कुल 3 हजार भारतीय अपना पहचान-पत्र जलाने के लिए इकट्ठा हुए। सरकार को पहले ही आगाह कर दिया था कि जब तक सरकार कानून वापस नहीं लेती है तब तक यह आंदोलन रुकेगा नहीं। अब तक मीर आलम अपनी सजा काट कर जेल से बाहर आ चुका था। उसे अपनी गलती का एहसास हो चुका था। अब वह गांधीजी की लड़ाई का पक्का सिपाही बन चुका था।

गांधीजी के प्रिय मित्र हेनरी पोलाक की पत्नी मिली पोलाक 1908 का एक और वाकया बताती हैं। जोहानिसबर्ग की एक विशाल सभा खत्म कर वे सब लौट रहे थे। गांधीजी चलते हुए एकदम आगे निकल गए थे। मिली ने पीछे से देखा कि अंधेरे कोने से निकलकर एक आदमी गांधीजी के पास आया। गांधीजी ने उसकी कुछ बात सुनी और फिर उसकी बांह में अपना हाथ डाल कर, दोनों चल पड़े। दोनों बहुत ही धीमे स्वर में बातें कर रहे थे। गली के आखिर तक वह आदमी गांधीजी के साथ चला और फिर उनको एक पैकेट देकर, दूसरे रास्ते निकल गया। अब जाकर मिली गांधीजी के पास तक पहुंचीं। उन्होंने गांधीजी से पूछा, "क्या चाहिए था उस आदमी को ?...कुछ खास ?" गांधीजी ने सीधे से जवाब दिया, "हां ...वह मुझे मारना चाहता था।" मिली भौंचक्की-सी रह गई- "क्या ?...वह पागल था ?... हमें पुलिस में उसकी शिकायत करनी चाहिए थी। आपने उसे यूं ही जाने क्यों दिया ?" गांधीजी ने कहा, "नहीं वह पागल नहीं था, उसे मेरे बारे में सिर्फ गलतफहमी थी। तुमने देखा न, वह मुझसे किस तरह बातें कर रहा था ! देखो, जाते-जाते उसने मुझे कया दिया..." और अखबार में लपेटा वह तोहफा गांधीजी ने मिली को दिया। मिली ने अख़बार से जो बाहर निकाला वह एक बड़ा, तेज छुरा था ! मिली अवाक् रह गईं लेकिन गांधीजी ने कहा, "वह मुझे जितना बुरा मान रहा था उसमें वह दूसरा कुछ कर भी तो नहीं सकता था सिवा मुझे मार डालने के !... फिर यह भी तो सोचो कि यदि मैं उसे पुलिस में दे देता तो वह मेरा आजन्म दुश्मन बन जाता। आज उसकी दुश्मनी का अंत हो गया। मैं नहीं समझता हूं कि अब आगे वह कभी मुझ पर हमला करेगा। अब वह मेरा मित्र बन गया है।" मौत से दोस्ती का यह गांधीनामा था।

1913 में दक्षिण अफ्रीका की न्यायपालिका ने एक निर्णय सुनाया कि गैर ख्रिस्ती पद्धति से विवाहित पत्नियों को दक्षिण अफ्रीका आने की अनुमति नहीं मिलेगी। गांधीजी ने अपनी पत्रिका 'इंडियन ओपीनियन' में

लिखा, "हिंदू और मुसलमान पत्नियों को अब यहां रहने का कोई अधिकार नहीं है। हो सकता है कि सरकार दूसरे धर्मावलंबियों की पत्नियों को भी यहां आने की इजाजत न दे।" गांधीजी को कोर्ट का यह फैसला गहराते सत्याग्रह को ईश्वर के वरदान-सा लगा। उन्होंने स्त्रियों को भी सत्याग्रह कर जेल जाने के लिए प्रेरित किया। कस्तूरबा के साथ जुड़ कर 15 लोग, सत्याग्रह के कार्यक्रम के मुताबिक नाटाल से ट्रांसवाल में बगैर अनुमति-पत्र के दाखिल होने के जुर्म में गिरफ्तार हुए। इनमें गांधीजी के 5 साल के पुत्र रामदास भी थे, जिन्हें 3 महीने की सख्त मजदूरी की सजा हुई। कस्तूरबा के जेल जाने पर गांधीजी खूब खुश हुए। दक्षिण अफ्रीका के आंदोलन में आ रहे इस गुणात्मक परिवर्तन को वे पहचान रहे थे। अब आंदोलन का अगला कदम यह बना कि पुरुष, महिलाएं और बच्चे, तीनों आजादी के नाम पर टोलियां बना कर टॉलस्टॉय फार्म से निकलें। न्यू कासल की कोयला खदानों में काम करने वाले 4-5 हजार मजदूर, 3 पाउंड के टैक्स के विरोध में इस कूच में आ जुड़े। अहिंसक सत्याग्रह के छोटे-से बीज से पैदा हो रहा यह चमत्कार देखकर गांधीजी खुद भी अचंभित थे।

वह ऐतिहासिक कूच !

हड़ताल कुछ इस तरह चली कि अक्तूबर में कुल 2000 लोग ट्रांसवाल-कूच में निकल पड़े। गांधीजी पर इन दो हजार पैदल यात्रियों को रोज खिलाने-पिलाने की जिम्मेवारी थी। जनरल स्मट्स गांधीजी की मुश्किल समझ रहे थे और इसलिए उन्होंने सत्याग्रहियों को गिरफ्तार नहीं किया। यात्री रोज 20-24 मील चलते थे। कुछ दयालु रोटी बनाने वाले तथा रेलवे के कुछ अधिकारी थे जो उनको रोज का राशन पहुंचा तो रहे थे पर वह अपर्याप्त था। लोगों की हिम्मत जवाब दे रही थी। इस यात्रा में कुछ लोगों की जान भी गई। स्मट्स इस यात्रा को रोकना चाहते थे और इसलिए उन्होंने गांधीजी को यात्रा के बीच से ही उठाना भी चाहा। यात्रा के बीच से पुलिस ने उन्हें तीन बार पकड़ा भी लेकिन तीनों ही बार वे जमानत पर छूट कर यात्रा में जुड़ते रहे। चौथी बार जब उन्हें पकड़ा गया तो गांधीजी के अपने ही बयान के आधार पर नौ महीने की सख्त और एकांत कारावास की सजा सुनाई गई। गांधीजी ने पहले ही यात्रा-टोली से कह रखा था कि उनकी अनुपस्थिति में यात्रा रुकनी नहीं चाहिए। अब साथियों ने यात्रा की कमान संभाली।

किसी चमत्कार की तरह यात्रियों को रोज-रोज कुछ राशन मिलता ही जा रहा था। जनरल स्मट्स देख रहे थे कि अब भी यात्रियों को गिरफ्तार न करना भारी पड़ सकता है। आंदोलनकारियों की बहादुरी दूसरे गिरमिटियाओं को भी प्रभावित कर रही थी। इसलिए बहुत देर करना खतरनाक हो सकता है, ऐसा जान कर पांचवें दिन सबकी गिरफ्तारी हुई। अब तक कई लोग ऐसे थे जो 110 मील से ज्यादा चल चुके थे। खदान मजदूरों को गिरफ्तार कर उन्हें उनकी ही खदानों तक पहुंचाया गया। उनसे काम करवाने के लिए

उन पर तरह-तरह के जुल्म किए गए लेकिन चाबुक की मार सहते हुए भी वे काम को तैयार नहीं हुए। उनसे प्रेरणा पाकर दूसरे हजारों भारतीय मजदूर हड़ताल में आ जुड़े। इस सत्याग्रह की खबर दुनिया भर में फैली। कुल मिलाकर ऐसा दबाव बढ़ा कि दिसंबर महीने में गांधीजी को बिना शर्त रिहा किया गया। जुल्मों की जांच के लिए कमीशन बना। कमीशन के सभी सदस्य भारत विरोधी हैं, ऐसा कह कर गांधीजी ने कमीशन का विरोध किया और उससे सहयोग करने से इनकार कर दिया। फिर यह घोषणा भी कर दी कि जनवरी में वे एक दूसरी यात्रा निकालेंगे। भारतीयों में इससे उत्साह की लहर दौड़ गई।

यह सब चल रहा था तभी दक्षिण अफ्रीका में यूरोपीय रेल-रोड कामगारों की हड़ताल घोषित हुई और दक्षिण अफ्रीका की सरकार का कामकाज ठप हो गया। गांधीजी ने तुरंत ही अपनी रणनीति बदली और कहा कि अहिंसा में प्रतिद्वंद्वी पर आन पड़ी आकस्मिक आपदा का फायदा नहीं उठाना चाहिए। उन्होंने यात्रा की अपनी योजना वापस ले ली। उनके इस नैतिक निर्णय की दुनिया भर में खूब कदर हुई। जनरल स्मट्स पर भी इसका नैतिक दबाव पड़ा और उन्होंने लिखा, “मुझे तुम्हारे लोग पसंद नहीं, मुझे उनकी पड़ी भी नहीं है ! पर मैं क्या करूं, जब भी मैं मुसीबत में होता हूं तो तुम ही मेरी मदद भी करते हो। फिर कहो, मैं तुम पर हाथ कैसे डाल सकता हूं !” ऐसा लिखकर जनरल स्मट्स ने हथियार डाल दिए। भारतीयों की सभी मांगें मान ली गईं। नौ साल चले इस सत्याग्रह में दक्षिण अफ्रीका में रहने वाले कुल छह हजार लोग जेलों में गए।

लेकिन भारतीयों का एक खेमा था कि जो नाराज था। उसका कहना था कि इस समझौते के कारण भारतीयों को केवल एक ही शादी को मंजूरी मिली थी। मुसलमानों के एक से ज्यादा शादी करने के अधिकार पर पाबंदी बनी हुई थी। इस कारण मुसलमान नाराज थे। माहौल काफी तंग हो चला था। ऐसे में मुसलमानों की एक मीटिंग में गांधीजी को बुलाया गया और सबके मना करने के बावजूद गांधीजी उस मीटिंग में पहुंचे | मीटिंग में ही उन पर हमला करने की नौबत आ गई थी। तभी एक लंबा-चौड़ा पठान खुला खंजर लिये गांधीजी की सभा के मंच पर चढ़ आया। यह पठान वही मीर आलम था जिसने गांधीजी को रजिस्ट्रेशन ऑफिस के सामने बुरी तरह पीटा था। इस बार वह गांधीजी की रक्षा के लिए आगे आया था। उसने चीख कर नाराज भीड़ से कहा, “अगर गांधी भाई पर कोई भी हमला करेगा तो उसे मेरे खंजर का मुकाबला करना होगा !” गांधीजी अपने इस नये दोस्त को देखकर मुस्कराए और बोले, “अरे, क्या कहते हो भाई मीर आलम, हम सब भाई ही तो हैं। खंजर रख दो, यहां मुझे कोई नहीं मारेगा।” गांधीजी पूरी मीटिंग में बैठे रहे। 1908 में जिस आदमी ने गांधीजी पर जानलेवा हमला किया था, कोई 2 साल बाद, 1914 में उसी आदमी ने गांधीजी को जानलेवा हमले से बचा भी लिया।

दक्षिण अफ्रीका के पूरे आंदोलन में जनरल स्मट्स ने गांधीजी पर कभी जानलेवा वार नहीं करवाया लेकिन उनकी पुलिस-सेना ने भारतीय सत्याग्रहियों पर कई बार जानलेवा हमले किए, गोलियां बरसाईं। कठिन कारावास के दौरान भी कई भारतीयों की जानें गईं। गांधीजी के सत्याग्रह को कुचलने के लिए स्मट्स सरकार ने हर तरह के हथकंडे अपनाए। वे गांधीजी के इस दृढ़ सत्याग्रह के महत्व को और अपने देश पर हो रहे इसके दूरगामी परिणाम को समझ रहे थे। नेल्सन मंडेला ने भी माना है कि गांधीजी के इस आंदोलन ने रंगभेद के खिलाफ उनकी लड़ाई की मजबूत नींव रख दी थी। अफ्रीका की आजादी की लड़ाई के दो मुख्य संगठन थे- 1902 में बना 'द अफ्रीकन पीपुल्स ऑर्गेनाइजेशन' और 1912 में बना 'अफ्रीकन नेशनल कांग्रेस' | ये दोनों संगठन गांधीजी के आंदोलन के साक्षी रहे।

गांधीजी और स्मट्स की इस लड़ाई ने गांधीजी की अहिंसा को बार-बार चुनौती दी, उसकी कसौटी की। गांधीजी की प्रेम की रणनीति इसी क्रम में गढ़ी भी गई, जांची भी गई और प्रखर भी हुई। फिर यह भी हुआ कि जनरल स्मट्स ने गांधीजी के सत्याग्रह के सामने अपनी हार कबूल की और इस लड़ाई का अंत हुआ। गांधीजी ने जेल में अपने हाथ से जनरल स्मट्स के नाप की चप्पल बनाई और वह उन्हें भेंट में दी। इस चप्पल को उन्होंने वर्षों तक अपने पास संभाल कर रखा और गांधीजी के 70वें जन्मदिन पर कहा, "जब से मुझे यह चप्पल मिली है, मैंने इसे कई बार पहना है पर हर बार मैंने यह महसूस किया है कि ऐसे महान व्यक्ति द्वारा बनाई इन चप्पलों में पांव डालने लायक मैं नहीं हूं।"

दक्षिण अफ्रीका में गांधीजी ने सत्याग्रह की क्रांतिकारी खोज की। उन्होंने कहा कि यदि सभी लोग, हिंदू-मुसलमान सभी सत्य के लिए अपनी जान पर खेल जाने का साहस पैदा करते हैं तो बंदूकें, बम और जेल उनका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती ब्रिटिश साम्राज्य निर्भयता की इस ताकत के प्रभाव को रोकने की नाकाम कोशिश कर रहा था। यह ऐसी ताकत थी जो दुनिया को बदलने की क्षमता रखती थी। गांधीजी इसे पहचान पा रहे थे और वे इसे दैवी ताकत से कम मानने को तैयार नहीं थे। यह था उनका सत्य का प्रयोग ! सत्याग्रह की इस खोज में ही दो महान घटनाओं के बीज भी बोये जा रहे थे-- एक थी भारत की आजादी और दूसरी थी गांधीजी की हत्या !

गांधी और उनके कातिल

गांधीजी अपने कातिल को पहचानते थे। कहते हैं कि वे अपने भावी कातिल से पहले ही मिल चुके थे और उसे अपने साथ एक सप्ताह रहने का निमंत्रण भी उन्होंने दिया था। गांधीजी हिंदुत्व की उस विचारधारा से भी खूब परिचित थे और उसके प्रवर्तक हिंसक क्रांतिकारी से चार दशक पहले इंग्लैंड में मिले भी थे।

तब वे दोनों हिंसा-अहिंसा, आतंकवाद-सत्याग्रह, हत्या-बलिदान का अपना-अपना दर्शन गढ़ रहे थे। इन दोनों की प्रतिस्पर्धा इंग्लैंड में शुरू हुई और फिर भारत आकर भी जारी रही।

गांधीजी और उनके हत्यारों की कहानी जिस तरह एक-दूसरे में उलझी हुई है उससे हमें सच्चाई को देखने का एक नया नजरिया मिलता है। हम एक ऐसी दुनिया में रहते हैं जहां राजनीतिक हत्याएं होती रहती हैं लेकिन उनके बारे में बात करना वर्जित है। लोकतंत्र में मिले बहुमत के सहारे सत्ताधारियों द्वारा परिवर्तनकारियों की हत्याएं होती रही हैं। मूलभूत परिवर्तन की लड़ाई लड़ने वालों के रास्ते में हत्या एक ऐसा हथियार है जिसका भारत में भी और अमेरिका में भी खूब इस्तेमाल होता रहा है लेकिन जिसकी बात कोई खुल कर करना नहीं चाहता है।

1909 में, दक्षिण अफ्रीका के अपने आंदोलन का सवाल लेकर जब गांधीजी दूसरी बार इंग्लैंड गए तो वहां रह रहे भारतीय नौजवानों से मिलकर वे बेहद चौंके। वे नौजवान पूरी तरह हिंसक क्रांति और हत्या की राजनीति से प्रेरित थे और उसी रास्ते भारत की आजादी की लड़ाई लड़ने का सपना भी देख रहे थे। मदनलाल धींगरा ने जब सर विलियम कर्जन विली की हत्या की, तब गांधीजी इंग्लैंड में ही थे। मदनलाल धींगरा लंदन में इंजीनियरिंग की पढ़ाई कर रहे थे और विली से उनका परिचय भी था। मदनलाल के पिता, जो ब्रिटिश राज के वफादार थे, चाहते थे कि विली मदनलाल को लंदन के हिंसक क्रांतिकारियों के प्रभाव से मुक्त कराएं। लेकिन इसी परिचय का फायदा उठाकर धींगरा ने विली की एक समारोह में हत्या कर दी। धींगरा विनायक दामोदर सावरकर के समर्पित अनुयायी थे। सावरकर तब 26 साल के थे और हिंसक क्रांति और हत्या के दर्शन में मानने वाले एक विचारक के रूप में युवकों में मान्य थे। वे इंग्लैंड में, इंडिया हाउस नाम के एक होस्टल में रहते थे और उन्होंने अपने अनुयायियों की एक जमात भी बना रखी थी। उन्होंने ही धींगरा को विली की हत्या के लिए महीनों प्रशिक्षित किया था। सावरकर ने धींगरा को ऐसा ही एक काम पहले भी सौंपा था जिसे करने में वे विफल रहे थे। इसलिए विली की हत्या से ठीक पहले जब धींगरा गुरु का आशीर्वाद लेने सावरकर के पास गए, तो सावरकर ने उनसे केवल इतना ही कहा, “इस बार भी यदि विफल हुए तो आगे मुझे अपनी शक्ल मत दिखाना !”

विली की हत्या के बाद सावरकर ने जेल में बंद अपने इस शिष्य को बधाई दी। धींगरा की फांसी के दूसरे दिन; 18 अगस्त को अपने परिचय के माध्यम से सावरकर ने ‘लंदन डेली न्यूज’ में धींगरा का वह बयान छपवाया जिसे उनका आखिरी बयान बताया जाता है। लेकिन सच तो यह था कि वह बयान धींगरा की तरफ से सावरकर ने खुद ही लिखा था और छपवाया भी था। इसमें धींगरा से यह कहलवाया गया था कि “इस हत्या के लिए कोई और नहीं, केवल मैं जिम्मेवार हूं !” यह सच था। धींगरा खुद भी अपने गुरु को

किसी भी प्रकार के आरोप से बचाना चाहते थे। इस बारे में उन्होंने अपने साथियों से कहा भी था, “हम सब मिलकर भी एक सावरकर नहीं बन सकते लेकिन मैं मर जाऊं तो सावरकर मेरे जैसे सौ मदनलाल बना सकते हैं।”

गांधीजी विलियम कर्जन विली को जानते थे। वे धींगरा के प्रति भी सहानुभूति रखते थे। हत्या के बाद इंग्लैंड में ही गांधीजी ने सार्वजनिक तौर पर कहा, “मेरी राय में श्री धींगरा बेकसूर थे। उन्होंने उन्माद में आकर यह हत्या की। नशा सिर्फ शराब और भांग का नहीं होता। एक पागल, उत्तेजक विचार का भी गहरा नशा होता है। श्री धींगरा भी ऐसे ही नशे में थे। इस हत्या के लिए दरअसल दोषी वे हैं जिन्होंने धींगरा को हत्या के लिए उकसाया था।” गांधीजी ने इस संदर्भ में आगे कहा, “जो हत्या में मानते हैं और जिन्हें लगता है कि इससे देश की भलाई होगी, वे गलतफहमी में जी रहे हैं। किसी भी प्रकार की धोखेबाजी देश के लिए अच्छी नहीं। इस तरह की हत्याओं से यदि अंग्रेज देश छोड़कर चले भी जाते हैं तो उनकी जगह पर राज किसका होगा ? मेरा जवाब हैः हत्यारों का राज होगा... ऐसे राज से भारत का भला नहीं हो सकता, फिर चाहे हत्यारे काले हों या गोरे।”

इसके बाद गांधीजी और सावरकर 1906 में मिले। सावरकर के विचारों से गांधीजी वाकिफ भी थे और इंग्लैंड में रह रहे भारतीय नौजवानों पर उनका प्रभाव भी वे जानते थे। गांधीजी को पूरा यकीन था कि विली की हत्या में सावरकर का हाथ है। वे अखबार में छपे धींगरा के बयान के पीछे छिपे लेखक को भी खूब पहचान पा रहे थे। 24 अक्तूबर 1909 को, जब धींगरा की फांसी की गूंज शांत भी नहीं हुई थी, गांधीजी और सावरकर एक ही मंच पर, भारत के भविष्य की दो विरोधी संकल्पनाओं को लेकर आते हैं। मौका था दशहरे का, जो अच्छाई की बुराई पर जीत के प्रतीक के रूप में मनाया जाता है। दोनों ने ही रामायण के उदाहरणों से अपनी बात कही, अपनी रणनीति की चर्चा की। उस दशहरे के भोज का आयोजन सावरकर के ही इंडिया हाउस के उनके अनुयायियों ने किया था।

शेर की मांद में घुस कर पहले गांधीजी को बोलना था, फिर सावरकर को। गांधीजी ने बाद में कहा कि मैंने बगैर किसी झिझक के उनका यह आमंत्रण स्वीकार कर लिया ताकि मैं उनसे हिंसा के रास्ते परिवर्तन की व्यर्थता के बारे में बात कर सकूं। गांधीजी ने अपनी तरफ से दो शर्तें भी रखीं: एक, भोजन शाकाहारी हो (जिसे वे खुद पकाएंगे) और दूसरा यह कि सभा में विवादास्पद राजनीति की चर्चा नहीं होगी। सभा से घंटों पहले उन्होंने वहां के विद्यार्थियों के साथ बैठ कर खुशी-खुशी भोजन के लिए आलू भी छीले।

अपनी बात में गांधीजी ने रामायण को एक ऐसा ग्रंथ बताया जो सच्चाई के लिए कष्ट सहने की सीख देता है। भगवान राम ने सच्चाई के लिए वनवास का कष्ट सहा, सीता ने रावण की कैद में रहकर भी पवित्र

सहनशीलता का परिचय दिया, लक्ष्मण का वनवास एक कठोर तपस्या थी। गांधीजी ने कहा कि सच्चाई के लिए इस तरह का त्याग और तपस्या ही भारत को स्वतंत्रता दिला सकती है। झूठ पर सच्चाई की विजय निश्चित व अटल है। जिस दिन, भारतीय इन मूल्यों पर जीने लगेंगे, उसी दिन उनको आजादी प्राप्त हो जाएगी। उन्हें साम्राज्यवादी ताकतों से आजादी की अलग से लड़ाई लड़ने की जरूरत भी नहीं होगी। स्वतंत्रता के लिए अहिंसक रास्ता अपने आप में साधन नहीं, एक ध्येय है, साध्य है जो हमें स्वतंत्र करता है।

सावरकर ने अपनी बात में इसी कहानी का एक दूसरा मतलब लोगों के सामने रखा। उन्होंने कहा कि रावण जो कि दमन और अन्याय का प्रतीक है, उसके वध के बाद ही तो रामराज्य की स्थापना हुई। दुष्टता का नाश दुष्ट के विनाश से ही संभव है। सावरकर ने देवी दुर्गा की प्रशंसा की और कहा कि दुष्ट को खत्म करना जरूरी है। विवादास्पद राजनीति में गए बगैर दोनों ने रामायण के संदर्भ में केवल हिंसा और अहिंसा की ही बात नहीं की बल्कि अपनी-अपनी नीतियों की चर्चा भी की, देश की स्वतंत्रता के लिए अपनाए जाने वाले रास्तों की चर्चा भी की। इसके चालीस साल बाद तक दोनों अपने-अपने रास्ते समाज परिवर्तन का काम करते रहे लेकिन दोनों दो विरोधी दर्शन के पैरोकार बने रहे। इसी की परिणति सावरकर और उनके साथियों द्वारा गांधीजी की हत्या में हुई। सावरकर की रामायण में दुष्ट रावण को मारना जरूरी था और आजादी की रामायण में, उनकी नजर में गांधीजी रावण थे। और गांधीजी? वे मरने से हिचकते नहीं थे। वे तो मानो इस साधना में लगे थे कि मरते वक्त उनके मुंह में राम का नाम हो।

हिंद-स्वराज्य की रचना

13 नवंबर 1909 को गांधीजी इंग्लैंड का अपना मिशन पूरा कर, पानी के जहाज से जब दक्षिण अफ्रीका लौट रहे थे तो लंदन में रहकर भारत की आजादी की लड़ाई लड़ रहे भारतीय नौजवानों की मानसिकता, उनके मन में हिंसा की अनिवार्यता और सावरकर आदि से उनको मिल रहा दिशा-निर्देश- सबका का गहरा बोझ उनके मन पर था। वे बेहद व्यथित थे। ऐसी ही मनोदशा में, एस. एस. किल्दोनन कासल नाम के जहाज पर बैठकर, 10 दिनों के सतत लेखन से उन्होंने वह ऐतिहासिक किताब लिखी जिसका नाम है 'हिंद-स्वराज्य' | इसे लिखते हुए उनकी लेखनी उनके विचारों की उत्कटता से ताल नहीं मिला पा रही थी। वे जैसे किसी जुनून के साथ लिखते जा रहे थे। जब दाहिना हाथ थक जाता था तो वे बाएं हाथ से लिखने लगते थे और जब बायां थकता तो फिर वे हाथ बदल लेते थे। 'हिंद-स्वराज्य' अहिंसा के रास्ते आजादी पाने का गांधीजी का मौलिक घोषणा-पत्र था। स्वराज का मतलब उनके लिए पश्चिमी सभ्यता से आजादी थी, जिसे वे 'हिंद-स्वराज्य' में 'शैतानी सभ्यता' कहते हैं। और उनका निष्कंप निष्कर्ष यह बना

कि ऐसी आजादी अहिंसा के रास्ते ही संभव है। उन्होंने लिखा कि पश्चिम का अंधानुकरण भारत को फिर से गुलामी की चक्की में फंसा देगा।

इधर गांधीजी अपने सत्याग्रह-संघर्ष की डोर संभालने दक्षिण अफ्रीका लौटे, तो दूसरी तरफ सावरकर हिंदुस्तान में एक और अंग्रेज की हत्या की योजना बनाने में जुटे। नासिक के जिला मजिस्ट्रेट के विदाई समारोह में, 16 साल के अनंत कन्हारे ने उन्हें मार दिया। यह एक दूसरी राजनीतिक हत्या थी। कन्हारे के तार सीधे-सीधे सावरकर से जुड़े थे। सावरकर पर मुंबई में मुकदमा चला और उन्हें दोषी पाया गया। जून 1911 में उन्हें 50 साल के कालापानी की सजा सुनाई गई और अंदमान में बंदी बना लिया गया। वे 10 साल तक अंदमान की जेल में रहे लेकिन अंदमान पहुंचने के पहले साल के भीतर ही उन्होंने अंग्रेज सरकार को दया की अपनी अर्जी लिख भेजी। 1913 में उन्होंने फिर एक याचिका लिख भेजी जिसमें अंग्रेजी राज व सरकार के प्रति अपनी पूर्ण वफादारी का वादा किया। उन्होंने इस अर्जी में लिखा कि यदि सरकार दयापूर्वक उन्हें छोड़ देती है तो वे भविष्य में संविधान के रास्ते पर ही चलेंगे और भारत और विदेश में रहने वाले जो युवा उन्हें अपना नेता मानते हैं, उन्हें सरकार के समर्थन में ले आएंगे। अपने इस हृदय परिवर्तन को ईमानदार और पवित्र बताते हुए उन्होंने खुद को अंग्रेज सरकार का 'सुबह का भूला पर शाम को लौट आने वाला' बेटा बताया। जब सावरकर पत्राचार द्वारा अंग्रेज सरकार से दया की भीख मांग रहे थे, गांधीजी दक्षिण अफ्रीका का अपना आंदोलन सफलतापूर्वक पूरा कर, भारत लौटने की तैयारी कर रहे थे।

निर्भय प्रतिरोध का रास्ता

भारत लौटते ही गांधीजी को फिर वैसे नौजवान मिलने लगे, जो हिंसा और हत्या के रास्ते आजादी की पैरवी कर रहे थे। 31 मार्च 1915 को कलकत्ता की एक सभा में उन्होंने ऐसे युवाओं को संबोधित करते हुए कहा कि हिंसा भारत की संस्कृति का हिस्सा नहीं है। उन्होंने कहा कि जो हिंसा के पैरोकार हैं उन्हें यह सच्चाई समझ लेना चाहिए कि हिंसा से मिली आजादी फिर उसी हिंसा की भेंट चढ़ जाएगी। वे बोलेः मैं क्रांतिकारियों की बहादुरी को पहचानता हूं लेकिन दूसरों की जान लेने में नहीं, अपनी जान देने में वह बहादुरी काम आए ऐसा चाहता हूं। मैं अहिंसा के रास्ते यही सिद्ध करना चाहता हूं। अगर मुझे विद्रोह करना है तो मैं खुलेआम करूंगा और फिर उसका जो भी परिणाम होगा उसे सहने के लिए तैयार रहूंगा। यदि आप मरने के लिए तैयार हैं तो मैं आपके साथ मरने के लिए तैयार हूं।

आने वाले दिनों में देश-दुनिया ने, अंग्रेजों ने गांधीजी को ऐसा ही करते देखा- वह देखा, जो कभी देखा नहीं था। गांधीजी अंग्रेजों के सामने खुला विद्रोह करते हैं, करते चले जाते हैं और परिणामस्वरूप मरने

के लिए भी हमेशा तैयार मिलते हैं। वे 'करो या मरो' का नारा देते हैं और कहते हैं कि यह सब प्रेम से करो, अहिंसा से करो, खुलेआम करो और निर्भय प्रतिरोध द्वारा करो। इसका जो परिणाम होगा वह प्रेम से सहन करो, और जरूरत पड़ने पर अपनी जान दे दो- करो या मरो!

चंपारण सत्याग्रह से शुरू करके गांधीजी कितने ही रास्तों पर देश को ले गए- मजूर-महाजन की लड़ाई, खेडा का किसान संघर्ष, असहयोग आंदोलन, साइमन बायकॉट, नमक सत्याग्रह, फिर असहकार- जैसे पूरा देश ही खौलने लगा। आम लोगों के अभूतपूर्ण प्रतिसाद की वजह से गांधीजी के साधारण-से लगने वाले कार्यक्रम भी असाधारण प्रभाव पैदा करने लगे। अन्याय के विरोध में बहादुरी भरा व्यापक असहकार; नतीजा देश की जेलें भर गईं- ऐसी भरीं कि अब स्व्याग्रहियों को रखने की जगह नहीं बची! गांधीजी भी गिरफ्तार हुए- बार-बार गिरफ्तार हुए। पर आंदोलन न थमा, न कमजोर हुआ। लोग मरे भी, घायल भी हुए, जेलों में बंद भी रहे लेकिन अहिंसक सत्याग्रह जारी रहा। अंग्रेज अपने दमन का औचित्य न खुद समझ पा रहे थे, न दुनिया को समझा पा रहे थे। जो निर्भय थे उन पर अंग्रेजों की हिंसा बेअसर थी। नमक सत्याग्रह के बाद अंग्रेजों का भारत पर से काबू जाता रहा। गांधीजी और उनके साथी शासकों द्वारा दिए गए घावों को न सिर्फ हंसते-हंसते सहन कर रहे थे बल्कि आगे बढ़कर मौत को भी गले लगा रहे थे। गांधीजी जिसे स्वराज कहते थे मानो उसकी कुंजी देश के हाथ लग गई थी।

'करो या मरो' के संकल्प के रास्ते में आने वाली फिसलनों से गांधीजी अनजान नहीं थे। लेकिन उनके सामने सबसे बड़ा प्रलोभन था स्वराज के लिए अपनी जान दे देना! गांधीजी इसके लिए दशकों से अपने को तैयार कर रहे थे। अगस्त 1942 में, जब आजादी की लड़ाई का रास्ता रुंध-सा गया था तब गांधीजी को लगा था कि आत्म-बलिदान का समय आ गया है। दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान गांधीजी का 'भारत छोड़ो' का शंखनाद ब्रिटिश प्रधानमंत्री के कान खड़े कर गया था। उसके आदेश पर, 8 अगस्त 1942 को गांधीजी समेत सारे-के-सारे कांग्रेसी नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया। एक समय ऐसा भी आया था जब चर्चिल और ब्रिटेन की युद्ध-कैबिनेट ने गांधीजी को भारत से बाहर ले जाकर बंदी रखने का निर्णय कर लिया था। उनका हिसाब यह था कि अपनी गिरफ्तारी के खिलाफ यदि गांधीजी आमरण उपवास शुरू भी करते हैं तो विदेश में उनको नियंत्रित करना आसान होगा। लेकिन बाद में यह हिसाब लगाया गया कि गांधीजी को देश से बाहर ले जाने की जैसी प्रतिक्रिया देश भर में फूटेगी उसे संभालना सरकार के बस का नहीं होगा। सो आखिर में उन्हें पुणे के आगा खान महल में रखा गया।

गांधीजी भी जान रहे थे कि महायुद्ध के वक्त देश की आजादी की लड़ाई को तेज करना अंग्रेज बर्दाश्त नहीं करेंगे और उसे कुचलने के कठोरतम प्रयास होंगे। गांधीजी ऐसा ही चाहते थे ताकि सब कुछ दांव

पर लगाने की चुनौती खड़ी हो। मुंबई में कांग्रेस के सम्मेलन में वे छोटा-सा एक मंत्र देते हैं: करो या मरो ! वे हर भारतवासी का आह्वान करते हैं कि "आज से हमारे जीवन की हर सांस भारत की स्वतंत्रता के लिए समर्पित है और उस ध्येय को हासिल करने के लिए जरूरत पड़ी तो हर व्यक्ति अपनी जान दे देगा।"

गांधीजी इस चुनौती के लिए खुद को भी पेश करना चाहते हैं, अपने शब्दों पर खुद खरा उतरना चाहते हैं। वे क्या प्रतिकार करेंगे? सभी अंदाजा कर रहे थे कि वे आमरण उपवास पर उतरेंगे। गांधीजी सच ही इसी दिशा में कुछ खोजने में लगे थे। उनका मन कह रहा था कि इस बार जैसी तीव्रता वे पैदा करना चाहते हैं उसमें उपवास के दौरान उन्हें पानी लेना भी बंद कर देना चाहिए। वे सोच रहे थे कि पानी के बिना उपवास छोटा ही खिंचेगा और शीघ्र नतीजा लाने वाला होगा।

महादेव देसाई इसी आशंका से घिरे, गहरे मानसिक दबाव में थे- बापू ने यदि उपवास का रास्ता लिया तो वह छोटा और शीघ्र मृत्यु तक ले जाने वाला होगा। अंग्रेज तो इसका स्वागत ही करेंगे, संभवतः वे गांधीजी की मौत की खबर को दबा भी दें लेकिन कया बापू को यह रास्ता पकड़ना चाहिए? महादेव भाई को लग रहा था कि बापू जल्दबाजी कर रहे हैं और उनकी यह जल्दबाजी उनकी निराशा में से पैदा हुई है। निराशा और जल्दबाजी, दोनों ही अहिंसा के सिद्धांत के एकदम उलटे जाते हैं। आखिरकार महादेव देसाई और कुछ अन्य साथियों ने मिलकर बापू को निवेदन भरा एक पत्र भी लिखा कि वे उपवास का विचार छोड़ दें। गांधीजी ने उनकी बात अनसुनी कर दी।

9 अगस्त को गांधीजी को गिरफ्तार कर आगा खान महल में नजरबंद कर दिया गया और इसके छठे दिन दिल का दौरा पड़ने से महादेव भाई की मौत हो गई। महादेव भाई की भगवान से आखिरी प्रार्थना यही तो थी कि वह उन्हें गांधीजी के पहले उठा ले। महादेव भाई को यह विश्वास भी था कि भगवान उनकी प्रार्थना सुनते हैं। ऐसा ही हुआ भी। महादेव भाई अपने बापू की बांहों में मरे। बाद में गांधीजी ने यह कहा कि महादेव एक बार भी आंखें खोल कर मेरी तरफ देखता तो मेरी आवाज सुन कर उठ बैठता, वह मेरी बात कभी टालता नहीं था। शायद अपने प्रेम की गहराई को महसूस कराने के लिए ही महादेव ने अपनी आंखें नहीं खोली होंगी। महादेव देसाई के पुत्र नारायण देसाई का मानना है कि उनके पिता की मौत ने ही गांधीजी को अपने आमरण उपवास के निर्णय से विरत किया। गांधीजी ने कहा कि महादेव ने उनके 'करो या मरो' नारे का समुचित जवाब दिया। उन्होंने यह भी कहा कि इस जीवन-त्याग से भारत को जल्द ही आजादी मिलेगी। गुरु की खातिर शिष्य ने अपनी जान दांव पर लगाई।

बेटे की वापसी

1944 की गर्मियों में इंग्लैंड ने भारत को आजाद करने की प्रक्रिया तेज कर दी। हम देखेंगे कि जहां इंग्लैंड ने भारत की आजादी की संभावनाएं तलाशने का काम तेज किया, वहीं गांधीजी की हत्या करने का काम भी तेज हुआ। (देखें : छठी सफलता से पहले, पृष्ठ: 59) । गांधीजी की हत्या के पीछे की इन तमाम कोशिशों के पीछे एक साया मंडरा रहा था- विनायक दामोदर सावरकर ! गांधीजी के पुराने प्रतिद्वंद्वी सावरकर, जिनके पास अब नारायण आप्टे और नाथूराम गोडसे जैसे दो अनुयायी थे, जो इस हत्या का पात्र बनने को व्याकुल थे।

इधर अंदमान पहुंचते ही माफी मांगने की जो कोशिश सावरकर लगातार कर रहे थे, वह रंग ला रही थी। अंग्रेज सरकार 'सुबह के भूले' बेटे की वापसी स्वीकार करने की तैयारी कर रही थी। कालापानी ने सावरकर को अंग्रेज सरकार का काला सेवक बना दिया ! सितंबर 1914 को वे अंग्रेज सरकार को एक पत्र में लिखते हैं कि भारत और अंग्रेजों की एक ही पृष्ठभूमि है- आर्य; और इसे ध्यान में रखकर वे और उनके साथी एक वृहद आर्य साम्राज्य खड़ा करने में अंग्रेज सरकार की मदद करेंगे। 1921 में जेल के कैदियों के साथ की चर्चा में वे गांधीजी के असहकार आंदोलन की निंदा करते हैं और कहते हैं कि अहिंसा और सत्य के रास्ते कभी स्वराज नहीं मिल सकता। इस तरह के कार्यक्रमों की वजह से भारत का अपना शौर्य नष्ट हो रहा है; कि यह एक बीमारी है जो देश को जड़ से ही नष्ट कर देगी। सावरकर और अंग्रेजी राज के बीच जो साठगांठ हुई उसके तहत 1921 में अंग्रेज सरकार ने उन्हें अंदमान से निकाल कर रत्नागिरि की जेल में ला रखा। उन्हें पुस्तकालय संभालने का काम दिया गया। 1923 में उन्हें यरवडा जेल लाया गया और जेल कारखाने का जिम्मा सौंपा गया। लेकिन इसकी आड़ में उन्हें वह जिम्मेवारी भी दी गई जिसका समझौता हुआ था- सावरकर गांधीजी के सत्याग्रह आंदोलन में गिरफ्तार होकर जेल आए सत्याग्रहियों को शिक्षित करने का काम भी करने लगे। जिसकी अपनी कोई शिक्षा थी ही नहीं, वही सत्याग्रहियों को भ्रमित करने के काम में लगाया गया। सावरकर स्वयं ही अपनी आत्मकथा में लिखते हैं, “मैंने गांधीजी के अनुयायियों की आंखें खोलने के लिए गांधीजी की ही कड़ी आलोचना करनी शुरू कर दी। मैंने तर्कपूर्ण तरीके से उन्हें बताया कि चरखे द्वारा स्वराज लाने की बात कैसी मूर्खतापूर्ण है; मैंने हिंदुओं द्वारा मुसलमानों के खिलाफत आंदोलन का समर्थन करने और अहिंसा जैसी बेतुकी बातों को ऐतिहासिक संदर्भ देकर पूरी तरह खारिज किया।”

जिस अंग्रेज सरकार से सावरकर अब अपनी वफादारी बुनने में लगे थे, उसी वक्त, उसी सरकार से विद्रोह के आरोप में गांधीजी यरवडा जेल में सजा काट रहे थे। कैसी विडंबना थी- गांधीजी, जो किसी समय

ब्रिटिश साम्राज्य के पैरोकार थे, आज उसके सबसे बड़े विद्रोही बन गए थे; सावरकर, जो कभी हिंसक क्रांति से कम की बातें ही नहीं करते थे, अंग्रेजों को मार कर आजादी लाने की बातें युवकों को सिखाते थे, आज वे ही सावरकर अंग्रेज सरकार से वादा कर रहे थे कि यदि उन्हें रिहा कर दिया गया तो वे हर प्रकार की राजनीतिक गतिविधि से दूर रहेंगे। यरवडा जेल में ही बंबई के अंग्रेज गवर्नर सर जॉर्ज लॉयड के समक्ष सावरकर ने अंग्रेजों के साथ वफादारी की शपथ ली कि वे कभी रत्नागिरि जिले से बाहर नहीं जाएंगे, किसी भी प्रकार की राजनीतिक गतिविधि में हिस्सा नहीं लेंगे। इतनी लिखित स्वामिभक्ति के बाद 6 जनवरी 1926 को सावरकर यरवडा जेल से रिहा हुए- फिर कभी, किसी कारण जेल न जाने के संकल्प के साथ!

सावरकर अपने आपको युद्धबंदी सेनापति कहलवाते थे और अपनी तुलना कृष्ण से करवाते थे। वे समझाते थे कि युद्धबंदी सेनापति होने के कारण वे न तो लड़ सकते हैं और न युद्धभूमि में आ सकते हैं। वे अपनी ऐसी छवि गढ़ने में लगे थे जैसी महाभारत के युद्ध में हथियार न उठाने की घोषणा करने वाले श्रीकृष्ण की है। वे कहते थे और अपने अनुयायियों के मन में इसे गहरे बिठा देना चाहते थे कि यदि वह श्रीकृष्ण के लिए कोई अपमान की बात नहीं थी तो उनके लिए कैसे हो सकती है !

1909 में रामायण के संदर्भ में गांधीजी से हुई चर्चा का स्मरण सावरकर को पूरे वक्त रहा। वे अपने संस्मरण में लिखते हैं कि जब वे जेल से छूटे तो उन्होंने अपने अनुयायियों से कहा कि जिस तरह राम को 14 साल वनवास और यातनाएं सहनी पड़ी थीं, मैं भी उसी तरह के वनवास से लौटा हूं। फिर खुद ही इसमें सुधार भी किया, “लेकिन इस उपमा में एक कमी है। राम रावण का वध करने के बाद वनवास से लौटे थे, यहां रावण अभी जिंदा है। जब इस रावण का वध होगा तभी मुझे मुक्ति मिलेगी। भगवान की दया से यह काम भी पूरा होगा। किसी दिन, किसी समय यह काम भी पूरा होगा और उससे तुम्हें पीड़ा भी होगी।” अपनी जेल डायरी में लिखी इन बातों का अंग्रेजी तर्जुमा सावरकर ने अपनी निगरानी में ही करवा लिया था, जो उनके अनुयायियों द्वारा गांधीजी की हत्या के दो साल बाद, 1950 में प्रकाशित हुई।

1924 में जेल से रिहा होने के बाद सावरकर ने समुद्र किनारे के छोटे-से शहर रत्नागिरि से अपनी राजनीतिक गतिविधियां शुरू कीं। अंग्रेजों को उनकी गतिविधियों से कोई आपत्ति नहीं थी। रत्नागिरि की जेल में ही सावरकर ने अपनी प्रसिद्ध किताब ‘हिंदुत्व: हिंदू क्या है?” लिखी, जिसमें उन्होंने राष्ट्रीय हिंदुत्व की अपनी संकल्पना को प्रस्तुत किया। अब उनकी छवि मुस्लिम विरोधी उग्रवादी हिंदू की बनने लगी थी। क्या यह महज इत्तेफाक था कि वे जिस हिंदू-मुस्लिम भेद की बात कर रहे थे वही भेद फैलाने की कोशिश तो अंग्रेज भी कर रहे थे !

1925 में रत्नागिरि आकर सावरकर से मिलने वालों में पहले व्यक्ति थे केशव बलराम हेडगेवार। वे पेशे से डॉक्टर थे पर सावरकर के हिंदुत्व के विचारों से बेहद प्रभावित थे। हिंदू राष्ट्र की स्थापना कैसे हो, दोनों की इस पर विस्तृत चर्चा हुई और फिर हम पाते हैं कि हेडगेवार ने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना की। इस निर्दोष-से नाम के पीछे छिपी थी वह रणनीति, जो मुसोलिनी ने 'ब्लैक शर्ट' नाम के अर्धसैनिक बल को खड़ा करने में अपनाई थी। 20वीं सदी का अंत आते-आते राष्ट्रीय स्वंयसेवक संघ इतना संगठित व मजबूत हो गया कि उसने मुसलमानों को डरा कर राजनीतिक सत्ता हासिल करने की योजना पर काम शुरू कर दिया।

1927 में गांधीजी सावरकर से एक औपचारिक भेंट के लिए मिलते हैं। इन दोनों की यह आखिरी मुलाकात है। विदा लेकर चलते हुए गांधीजी सावरकर से कहते हैं, "यह तो साफ है कि हम कई बातों में एक-दूसरे से सहमत नहीं हैं, फिर भी मैं आशा करता हूं कि आपको मेरे प्रयोगों से दिक्कत नहीं होगी।" सावरकर जवाब में कहते हैं, "क्या आप अपने प्रयोग देश की कीमत पर करेंगे?... ऐसा हम करने नहीं देंगे !"

1929 में एक डाक कर्मचारी का तबादला रत्नागिरि में हुआ। नाम था विनायक गोडसे ! तीन दिन बाद उनका परिवार भी वहां पहुंचा। विनायक गोडसे का 9 साल का बेटा नाथूराम यहीं पहली बार सावरकर से मिला। गांधीजी-हत्या में नाथूराम के सहयोगी और उसके भाई गोपाल गोडसे ने लिखा है कि नाथूराम उनसे (सावरकर) मिलने कई बार जाता था... नाथूराम ने सावरकर के कई लेखों की नकल बनाने का काम भी खुशी-खुशी किया। नाथूराम की निष्ठा से प्रभावित होकर सावरकर ने उसे अपना सेक्रेटरी बना लिया। नाथूराम आर.एस.एस. से भी जुड़ा था; बाद में उसे संघ की एक शाखा के 'शैक्षणिक विभाग' का प्रधान भी नियुक्त किया गया। नाथूराम ने सावरकर के विचारों को मानना और उन्हें फैलाना अपना ध्येय बना लिया था।

1930 में सावरकर ने सैन्य-वृत्ति के मुसलमान विरोधी संगठन 'हिंदू महासभा' को बनाने में मदद की और 1937 से 1944 तक इसके अध्यक्ष भी रहे। जब दूसरा विश्वयुद्ध शुरू हुआ तो उन्होंने हिंदू नौजवानों को साम्राज्य की फौज में भर्ती होने के लिए प्रेरित किया ताकि उनका इस 'योद्धा जाति में पुनर्जन्म' हो सके। 1940 में हिंदू राष्ट्रवाद और जंग को जोड़ने वाला उनका विचार और परिपक्व हुआ और "राजनीति का हिंदूकरण और हिंदुत्व का सैन्यकरण" का उनका नारा मशहूर हुआ।

जमादार नाथूराम गोडसे !

1944 में एक घटना घटी। तब गांधीजी मुस्लिम लीग के नेता मोहम्मद अली जिन्ना के साथ सुलह-सलाह का एक नया प्रयास करने सेवाग्राम के अपने आश्रम से निकलकर मुंबई जाने वाले थे। नाथूराम और

उसके साथी सेवाग्राम आश्रम इस निश्चय के साथ पहुंचे कि चाहे जो हो, वे लोग गांधीजी को इस मुलाकात के लिए मुंबई जाने नहीं देंगे | उन लोगों ने आश्रम का प्रवेश-द्वार घेर लिया था। जब पुलिस ने उनकी गिरफ्तारी की तो उनमें से एक के पास से साढ़े सात इंच लंबा एक चाकू बरामद हुआ। गांधीजी के सेक्रेटरी प्यारेलाल ने अपनी लिखी गांधीजी की जीवनी में उस पुलिस अफसर और गिरफ्तार हुए उस आदमी की बातचीत का जिक्र किया है। अफसर ने मजाक में कहा कि आप लोगों को तो शहीद कहलाने का संतोष मिल ही गया; सामने से जवाब आया कि नहीं, यह संतोष तो तभी मिलेगा जब कोई गांधीजी की हत्या कर देगा। अफसर ने कहा कि आप लोग यह सारा विवाद नेताओं को आपस में ही क्यों कहीं सुलझाने देते- सावरकर को खुद ही यह काम करने दो ! वह आदमी बोला कि गांधीजी को इतना सम्मान देने की जरूरत ही नहीं है। उनके खात्मे के लिए तो यह जमादार ही काफी है। प्यारेलाल लिखते हैं कि जिस जमादार की तरफ इशारा किया गया वह नाथूराम गोडसे था।

12 जनवरी 1948 को गांधीजी ने फिर आमरण उपवास की घोषणा कर दी। यह आखिरी मौका था जब गांधीजी मौत के एकदम करीब पहुंच गए। तब सारा देश सांप्रदायिक दंगों की आग में धू-धू कर जल रहा था। हिंदू, मुसलमान और सिखों के बीच का यह सांप्रदायिक दंगा काबू के बाहर था। गांधीजी कोलकाता से निकलकर पंजाब जाने की तैयारी से दिल्ली पहुंचे थे पर वहां के हालात देखकर वे वहीं रुक गए। अपना पूरा शारीरिक व आत्मिक बल समेटकर वे इस पागलपन की आग में कूद पड़े थे। अपने जीवन की व्यर्थता के बोध से उनकी आत्मा भरी हुई थी।

अपने जीने की व्यर्थता का ऐसा ही बोध हुआ था जब 1946 के अक्टूबर माह में वे 18 लाख मुसलमान और 4 लाख हिंदू जहां रहते थे उस नोआखाली नाम के टापू-सदृश्य स्थल पर जा पहुंचे थे। उन्होंने एक मित्र से कहा कि मैं नहीं जानता हूं कि मैं वहां क्या कर पाऊंगा लेकिन जब तक मैं वहां पहुंचूंगा नहीं, मुझे चैन नहीं मिलेगा ! वे कहते थे कि जो विचार जमीन पर उतारा न जा सके, वह तो निकम्मा है ! नोआखाली का नरसंहार उन्होंने गांव-गांव, नंगे पांव घूम-घूम कर अपनी आंखों से देखा; और यह भी देखा कि प्रत्यक्ष दिखने वाले हत्याकांड की जिम्मेवारी लेने को एक कोई मुसलमान भी सामने नहीं आया। भगवान उसी के साथ है जो बेखौफ है, कहकर उन्होंने अपने एक-एक साथी को आतंक में गहरे डूबे उन गांवों में अकेले-अकेले रहने के लिए भेज दिया। सबका एक ही काम था- हिंदू और मुसलमानों में फिर से उस भाईचारे की स्थापना करना, जो कहीं खो गया था। शंका से भरे गांधीजी के एक साथी ने ही कहा: सब खून के प्यासे हैं। हमारे दो साथियों की हत्या भी हो गई है। ऐसे में कोई क्या कर सकता है? गांधीजी बोले,

“हमें उनके गुस्से को शांत करना है...यह शायद मेरा आखिरी काम है... यहां से यदि मैं जीवित लौट सका तो समझना कि वह मेरा दूसरा जन्म होगा... यहां अहिंसा की खरी परीक्षा हो रही है।”

गांधीजी यहां 7 सप्ताह रहे। 47 गांवों में गए और कुल 116 मील चले। इस सफर में उनका साथ दिया रवींद्रनाथ ठाकुर के गीत 'एकला चालो रे !' वे सच में अकेले थे ! वहां के लोगों ने उनकी उपेक्षा की, उनके मुंह पर थूका, उनके रास्ते संडास से गंदे कर दिए, बांस के फिसलन भरे संकरे पुलनुमा ढांचे पर अकेले चल कर नदी पार करने का उन्होंने बजाप्ता प्रशिक्षण लिया। उनकी हत्या का साया उन पर लगातार मंडराता रहा लेकिन वे अपनी प्रार्थना में लीन चलते ही रहे और आखिर में लोगों का प्रतिसाद मिलना शुरू हुआ। उनकी प्रार्थना-सभा में धीरे-धीरे लोग आने लगे। गांधीजी की सख्त हिदायत थी: प्रार्थना सभा में आने वाले किसी को भी न परेशान किया जाए, न गिरफ्तार किया जाए। ऐसी ही एक वह सभा भी थी जिसमें एक मुसलमान सीधा गांधीजी तक आया, उसने महात्मा को गले से पकड़ा और इतनी जोर से उनक गला दबाया कि उनका चेहरा नीला पड़ गया। लेकिन वे मुस्कराते रहे, कोई प्रतिरोध नहीं ! ...वह खुद ही शर्मिंदा हुआ। बाद में उसने महात्मा के कदमों में पड़ कर उनसे माफी भी मांगी। नोआखाली से गांधीजी बिहार गए, बिहार से कलकत्ता के रास्ते दिल्ली। नोआखाली में हिंदू अल्पसंख्यक थे, दिल्ली में बहुसंख्यक ! इसलिए गांधीजी वहां हिंदुओं के साथ खड़े हुए थे तो यहां वे मुसलमानों के पक्ष में खड़े थे। वे हमेशा ही कमजोरों, अल्पसंख्यकों, गरीबों, असहायों के पक्ष में खड़े मिलते हैं जो कभी मुसलमान थे, कभी हिंदू, कभी सिख; और वे हमेशा की अस्पृश्यों व हरिजनों के साथ खड़े मिलते रहे। वे समाज के आखिरी आदमी के लिए जिए और उसी के लिए मरे।

गांधीजी की यह अडिग भूमिका देखकर सांप्रदायिक ताकतों ने अपनी रणनीति बदल ली और कई हिंदुत्ववादियों ने अपने आपको कांग्रेस पार्टी के साथ जोड़ लिया था। कई सावरकर समर्थक आर.एस.एस. और हिंदू महासभा के लोग भी योजनापूर्वक सरकारी तंत्र और सेना में घुस गए। पुलिस के मुख्य लोगों में भी ऐसे तत्वों की कमी न थी। ऐसी पुलिस, एक मुसलमान की या सर्वधर्म समभाव के समर्थक सत्याग्रही की रक्षा करेगी, यह अपेक्षा ही गलत थी। गांधीजी की हत्या के संदर्भ में केंद्र व राज्यों में पुलिस का यह संदर्भ महत्वपूर्ण था।

गांधीजी अपने आसपास घिरते जा रहे मौत के इस चक्रव्यूह को पहचान रहे थे। वे अपने साथियों से बार-बार कहते मिलते हैं, “देख नहीं रहे, मैं अपनी चिता के ऊपर बैठा तुमसे कह रहा हूं !” कया गांधीजी के साथी इस बात को पहचान नहीं पा रहे थे ? गांधीजी किसी दूसरे मौके पर फिर-फिर चेतावनी देते हैं, “इस बात को समझो कि एक जीती-जागती लाश तुम्हें यह बता रही है।”

बंटवारे का राक्षस जब बोतल से बाहर आया तो उसने हत्या को एकमात्र रास्ता और एकमात्र मुक्ति मान कर अपनी योजना बनानी शुरू की। 1947 की फरवरी में अंग्रेजों ने भारत छोड़ने का अपना इरादा सार्वजनिक किया। "फूट डालो और राज करो" की नीति अब 'टूट डालो और निकल चलो' का मंत्र जाप करने लगी। नतीजतन सत्ता का बंटवारा देश का बंटवारा करने वाला सिद्ध हुआ। ब्रिटिश सरकार कांग्रेस से एक, तो जिन्ना साहब और उनकी मुस्लिम लीग से दूसरी बात कहती थी। अफवाह, आशंका और अविश्वास के बीज बोए जा रहे थे और उसकी ही फसल काटी जा रही थी।

1947 के पहले दो महीनों में, जब गांधीजी नोआखाली में थे, उन्हें पता चला कि मुस्लिम लीग की हिंसा के दबाव में आकर नेहरू और पटेल ने उनको अंधेरे में रखकर देश बंटवारे के अंग्रेजी हुकूमत के प्रस्ताव को अपनी मंजूरी दे दी है। अंतरिम सरकार के दौर में मुस्लिम लीग के साथ काम करने में कांग्रेस को बहुत दिक्कतें आई थीं। उसकी कड़वी याद भी कांग्रेस के मन में बनी हुई थी। लेकिन गांधीजी इस बंटवारे के भयावह परिणामों को देख पा रहे थे।

दिल्ली में गांधीजी के आखिरी उपवास ने जैसे हिंदुत्ववादियों को फिर से चेतावनी दे दी- अब नहीं रोक सके इन्हें तो कभी नहीं रोक पाओगे ! हत्या करने की पिछली विफलताओं को भूल कर फिर से उसी प्रयोग का नया अध्याय लिखने की शुरुआत हुई। सावरकर और उनके साथियों के निशाने पर गांधीजी तो वर्षों से थे पर ऐसा मौका ? ऐसा मौका तो अभी ही बना था ! वे अब गांधीजी के सिर पर विभाजन का ठीकरा फोड़ कर, उनकी हत्या को और अपने हिंदू राष्ट्रवाद को जायज ठहरा सकते थे। इस हत्या के लिए नाथूराम गोडसे और नारायण आप्टे सावरकर के दो मुख्य मोहरे थे। गोडसे अब पुणे से छपने वाले उनके मुखपत्र 'अग्रणी' का संपादक था, जिसका नाम बाद में बदल कर 'हिंदू-राष्ट्र' कर दिया गया। आप्टे उसका प्रकाशक था। यह पत्र अब सावरकर के उग्र हिंदुत्व के प्रचार का मुख्य माध्यम था। नारायण आप्टे ने कभी हिंदुत्व पर एक भाषण दिया जिसका नोट मिला। उसमें उसने लिखा था:

नेताः सावरकर

नीतिः नेता का कहा मानना

नेतृत्व का मतलब: नेता से अटूट संबंध तथा ऊपर से दिए गए आदेशों का शब्दशः पालन

गोडसे और आप्टे ने गांधीजी की हत्या के लिए हथियारों का प्रबंध उनके दिल्ली-उपवास की घोषणा के पहले ही कर लिया था। 10 जनवरी को ही हथियारों के व्यापारी दिगंबर बडगे को एक सूची दे दी गई थी जिसमें बडगे को जरूरी विस्फोटक, रिवॉल्वर और हथगोले हिंदू महासभा की मुंबई ऑफिस में 14

जनवरी तक पहुंचाने का निर्देश था। सावरकर भी तब मुंबई पहुंच चुके थे और अपने शिष्यों को जरूरी निर्देश और आशीर्वाद दे रहे थे। जब गोडसे और आप्टे ने 12 जनवरी को गांधीजी के उपवास की खबर सुनी तो उन्होंने महात्मा की हत्या की तारीख 20 जनवरी तय की। अपने आखिरी उपवास के पहले दिन, 13 जनवरी 1948 को गांधीजी ने कहा कि मैं यह उपवास तभी खत्म करूंगा जब दिल्ली में संपूर्ण शांति बहाल हो जाएगी। दिल्ली अगर शांत होगी तो उसका असर सारे देश पर भी और पाकिस्तान पर भी पड़ेगा। जब ऐसा होगा तब कहीं एक मुसलमान इस शहर में निर्भयता से चल सकेगा।

जब बिरला भवन में गांधीजी का उपवास चल रहा था, वहां से निकट ही स्वतंत्र भारत का मंत्रिमंडल एक गहरे विवादास्पद मुद्दे पर बहस कर रहा था। मुद्दा था 55 करोड़ रुपयों का, जो भारत पर पाकिस्तान का बकाया था। कश्मीर-विवाद की वजह से भारत ने वे पैसे रोक लिये थे। कैबिनेट के सदस्यों को पता था कि गांधीजी इस तरह पैसे रोकने से दुखी थे। दूसरी तरफ उनकी उलझन यह थी कि वे पाकिस्तान को अपने ही खिलाफ इस्तेमाल के लिए पैसे कैसे दे दें ? एक तरफ यह उलझन और दूसरी तरफ गांधीजी का हिंदू-मुसलमान एकता के लिए चल रहा आमरण उपवास सबके लिए मानसिक और राजनीतिक चुनौती बना हुआ था।

उपवास के दूसरे दिन ।4 जनवरी को गोडसे और आप्टे पुणे से निकलकर मुंबई की हिंदू महासभा की ऑफिस में पहुंचे। यहां वे बडगे और उसके नौकर शंकर से मिले। बडगे के पास खाकी रंग का एक बड़ा-सा थैला था जिसमें वे सारे हथियार रखे थे जिसकी सूची बडगे को दी गई थी। हिंदू महासभा की ऑफिस से निकलकर बडगे, आप्टे और गोडसे सावरकर के घर पहुंचे। बडगे दरवाजे के बाहर ही रुक गया। आप्टे और गोडसे हथियारों से भरा थैला लेकर भीतर चले गए। अगले दिन आप्टे ने बडगे को बताया कि सावरकर ने तय किया है कि जवाहरलाल, गांधीजी और सुहरावर्दी, तीनों को खत्म कर देना है; और यह काम हमें सौंपा गया है। पूरी योजना का खुलासा तब हुआ जब गोडसे ने अपनी गिरफ्तारी के बाद, नेहरू की सुरक्षा के प्रमुख अधिकारी जी. के. हंडू के समक्ष स्वीकार किया कि हमने सोचा था कि विस्थापित हिंदुओं-सिखों की आहत भावनाओं को गांधीजी के विरोध में भड़का कर, देश में उन्माद का माहौल खड़ा किया जाएगा। उसी अंधाधुंधी में सावरकर के मुसलमान विरोधी संगठन आर. एस. एस. और हिंदू महासभा के लोग कांग्रेस के इन दो सबसे बड़े नेताओं की हत्या कर, इन्हें रास्ते से हटा देंगे और फिर जो अफरातफरी मचेगी उसकी आड़ में वे लोग सत्ता पर कब्जा कर लेंगे। इसी भावना और योजना की गूंज उस दिन बिरला भवन में सुनाई दी थी, जब विस्थापितों की एक टोली ने वहां पहुंचकर नारे लगाए

थे: खून के बदले खून, हमें बदला चाहिए, गांधीजी को मरने दो आदि। ये नारे गांधीजी के कानों तक भी पहुंचे। वे दुखी तो हुए पर अपने विश्वास से डिगे नहीं।

ये सुहरावर्दी कौन थे ? कहानी थोड़ी लंबी है। फिर भी इतना तो कह ही सकते हैं कि जिस तरह दक्षिण अफ्रीका में गांधीजी को वह पठान मीर आलम मिला था जिसने पहले उनकी हत्या का प्रयास किया और बाद में उनका पक्का संरक्षक बन गया, वैसा ही एक मीर आलम गांधीजी को पश्चिम बंगाल में मिला जिसका नाम सुहरावर्दी था। वे 'शहीद' तखल्लुस लगाते थे। मुस्लिम लीग के सुहरावर्दी 1946-47 में बंगाल के गवर्नर थे। कोलकाता में हुई भयंकर सांप्रदायिक खूंरेजी में गवर्नर सुहरावर्दी ने अपने पूरे प्रशासन के साथ हिस्सेदारी की थी। जिन्ना ने जिस 'सीधी कार्रवाई' का आहवान किया था, उसका सबसे वीभत्स रूप कोलकाता में फूटा था जिसमें चार अभागे दिनों में, मुसलमानों ने, और जवाबी हमलों में हिंदुओं ने मिल कर 4 हजार लोगों का कत्ल किया था और 11 हजार बुरी तरह घायल हुए थे। गांधीजी ने कोलकाता में, और फिर नोआखाली में ऐसे सुहरावर्दी को अपने साथ ले लिया और शांति के प्रयासों में अपने साथ उन्हें भी झोंक दिया | यह गांधीजी का हृदय परिवर्तन का प्रयोग था। कोलकाता कत्लेआम के बाद जब सुहरावर्दी से गांधीजी का पहला सामना हुआ, तो गांधीजी ने उनसे सीधा ही पूछा, “शहीद साहब, ऐसा क्यों है कि यहां हर कोई आपको गुंडों का सरदार कहता है?”

सुहरावर्दी ने बेशर्मी के साथ जवाब दिया, “महात्माजी, आपके पीठ पीछे लोग आपको भी क्या नहीं कहते हैं !”

फीकी हंसी के साथ गांधीजी बोले, “हो सकता है... फिर भी कुछ लोग तो हैं कि जो मुझे महात्मा भी कहते हैं ! लेकिन मुझे यहां एक आदमी भी नहीं मिला कि जो शहीद सुहरावर्दी को महात्मा कहता हो !” यहां से गांधीजी ने सुहरावर्दी को अपने साथ जोड़ा और परिवर्तन के हवन-कुंड में डाल दिया। लेकिन सावरकर ने सुहरावर्दी की इस नई भूमिका को न कभी पहचानने की कोशिश की और न उसे कबूल ही किया। इसलिए गांधीजी और नेहरू के साथ उनका नाम भी हिंदुत्ववादियों द्वारा हत्या की सूची में दर्ज हुआ।

गांधीजी की हत्या के बाद सुहरावर्दी ने पाकिस्तान में लोकतंत्र के समर्थन की मुहिम छेड़ी और उसका नेतृत्व किया। 1956 में वे पाकिस्तानी संसद के सदस्य भी बने और विपक्ष के नेता भी। पाकिस्तान का लोकतांत्रिक संविधान बनाने में उनकी अच्छी भूमिका रही और 1956 के सितंबर से 1957 के दिसंबर तक वे पाकिस्तान के प्रधानमंत्री रहे। उनके प्रधानमंत्री पद से हटने के बाद पाकिस्तान फौजी तानाशाही की भेंट चढ़ा। 1958 में फील्ड मार्शल अय्यूब खान ने सत्ता पर कब्जा कर लिया। सुहरावर्दी ने इस फौजी तानाशाही के खिलाफ आवाज उठाई और प्रताड़ित भी हुए। तानाशाही ने उन्हें राजनीति में हिस्सेदारी के

अयोग्य घोषित कर दिया और 1962 में जेल में डाल दिया। जेल से रिहा होते ही सुहरावर्दी ने फिर से 1956 के संविधान की पैरवी शुरू कर दी और लोकतंत्र की वापसी की मुहिम छेड़ दी। आंदोलन जड़ पकड़ने लगा कि तभी 5 दिसंबर 1963 को बेरुत के होटल के अपने कमरे में सुहरावर्दी मरे पाए गए- कहते हैं कि या तो उन्हें जहर दिया गया था या फिर उनके कमरे में जहरीली गैस छोड़ी गई थी। कोई खोजे तो एक सांप्रदायिक राजनीतिज्ञ के इस अंत में गांधीजी की क्षीण धारा भी खोज सकता है।

निहत्था सैनिक !

उपवास के तीसरे दिन डॉक्टरों ने कहा कि गांधीजी की किडनियां जवाब दे रही हैं। अब तक वे इतने कमजोर हो गए थे कि बिस्तर से उठ पाना संभव नहीं हो पा रहा था, सो बिस्तर के पास ही माइक लगा कर, गांधीजी ने अपनी बात कही: यह सच है कि मुसलमानों पर यहां जो अत्याचार हो रहा है, मैं उसके विरोध में उपवास पर हूं। यह जितना सच है उतना ही सच यह भी है कि मेरा उपवास पाकिस्तान में हिंदुओं और सिखों पर हो रहे अत्याचारों के विरोध में भी है। उन्होंने कहा कि उनका उपवास "हम सबकी आत्मशुद्धि के लिए है।" उसी दिन भारत सरकार ने घोषणा कर दी कि उसने पाकिस्तान का जो 55 करोड़ रुपया बकाया रोक रखा था, उसे वह पाकिस्तान को दे रही है। गांधीजी ने सरकार के इस निर्णय पर संतोष प्रगट किया और कहा कि इससे दोनों के बीच के रिश्ते सुधरेंगे और कश्मीर समस्या का भी समाधान निकलेगा। लेकिन ऐसा कहने और सरकार द्वारा बकाया वापस कर देने के बाद भी उन्होंने अपना उपवास नहीं छोड़ा। सावरकर और उनकी टोली का दुष्प्रचार यह था कि गांधीजी का उपवास पाकिस्तान को 55 करोड़ रुपये दिलवाने के लिए है। दुष्प्रचार एकदम झूठा साबित हुआ। जो उपवास पाकिस्तान को 55 करोड़ रुपये दिलवाने के लिए था ही नहीं, वह 55 करोड़ देने से छूटता कैसे !

16 जनवरी को गांधीजी की हालत और खराब हुई। वे पानी नहीं पी रहे थे, सो पेशाब नहीं हो रहा था। यह जहर फैल रहा था। लोगों ने पूछा कि उन्हें किस बात से संतोष होगा कि वे उपवास खत्म करेंगे ? प्यारेलाल बताते हैं कि तभी एक टेलीग्राम पाकिस्तान से आया। यह उन मुसलमानों का टेलीग्राम था जिन्हें दंगों की वजह से दिल्ली छोड़नी पड़ी थी। उन्होंने टेलीग्राम से गांधीजी से पूछा था कि क्या वे वापस अपने घरों को लौट सकते हैं ? गांधीजी ने टेलीग्राम पढ़ कर कहा : यह हो जाए तो मुझे संतोष होगा ! अब तुम सबकी परीक्षा है। प्यारेलाल ने उस टेलीग्राम की बात सभी सिखों-हिंदू शरणार्थियों के शिविरों तक पहुंचा दी। रात होते-न-होते 1000 लोगों ने लिखित वचन दे दिया कि वे मुसलमानों को उनके घर और उनकी मस्जिदें लौटाएंगे। उपवास से समाज में करुणा की एक लहर दौड़ पड़ी। जो कल तक दुश्मन-से थे, आज एक-दूसरे की तरफ सहानुभूति का हाथ बढ़ा रहे थे।

बदलते घटनाक्रम पर इधर मुंबई में भी नजर रखी जा रही थी। बडगे, आप्टे और गोडसे, तीनों फिर से सावरकर के घर गए। गोडसे ने बाद में बताया कि वे लोग “उनका आखिरी आशीर्वाद” लेने गए थे। बडगे ने अदालत में यही कहा। उसने कहा कि उनको विदा करते हुए सावरकर ने कहा: “विजयी होकर लौटो !” लौटते हुए टैक्सी में गोडसे ने बडगे से कहा: “सावरकर ने हमें लक्ष्य दिया है कि गांधीजी के 100 साल पूरे नहीं होने चाहिए ! मुझे कोई शंका नहीं कि हम उनका कहा पूरा करेंगे।” (पाठक याद रखें कि गांधीजी 125 साल जीना चाहते थे)। इस सारे खेल में पाकिस्तान से रिफ्यूजी बनकर आया आतंकी मदनलाल पाहवा भी एक बढ़िया प्यादा था। हिंदू महासभा के संयोजक और सावरकर के शिष्य विष्णु करकरे ने मदनलाल पाहवा को हिंदू महासभा का सदस्य बनाया था। करकरे, आप्टे और गोडसे सावरकर के खास प्यादे थे; पाहवा, बडगे बलि के बकरे थे। पाहवा को विस्फोटकों का इस्तेमाल करना आता था। वह रिफ्यूजी था। इसलिए उसके आगे-पीछे का इतिहास किसी को ज्ञात नहीं था। बडगे हथियारों की कालाबाजारी का धंधा करता था। इसलिए सावरकर ने इन दोनों का बलिदान करने की ठानी थी।

18 जनवरी को दिल्ली का नजारा बदला हुआ था। कोई एक मील लंबा वह शांति जुलूस था जो बिरला भवन पहुंचा था। इसमें लगभग एक लाख लोग शामिल थे - हिंदू भी, सिख भी, मुसलमान भी। पिछली रात 130 लोगों की एक केंद्रीय शांति समिति ने, जिसमें दिल्ली के अधिकांश प्रमुख लोग शामिल थे, सभी जाति-धर्मों के, सावरकर की हिंदू महासभा और आर.एस.एस. के लोग भी, एक शपथनामा जारी किया था जो हर तरह की शांति की गारंटी लेती थी। 18 जनवरी को इसी शांति समिति की तरफ से यह शांति जुलूस गांधीजी को यह भरोसा दिलाने बिरला भवन पहुंचा था कि सांप्रदायिक शांति का जैसा आश्वासन वे चाहते हैं वह हम बहाल भी करेंगे और बनाए भी रखेंगे। सभी चाहते थे कि किसी भी तरह उनकी जान बचाई जा सके। उपवास खत्म करते हुए अपनी क्षीणतर होती आवाज में उन्होंने कहा कि मैंने यह उपवास सत्य के लिए किया था। सत्य, जिसे हम सब भगवान भी कहते हैं... सत्य के बगैर भगवान कहीं नहीं है ...इसी सत्य के नाम पर मैं यह उपवास छोड़ता हूं। आप सबने मेरा उपवास खत्म हो, इसके लिए जो किया उससे अधिक तो मैं मांग भी क्या सकता हूं !. - हिंदू महासभा और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ भी इस शपथ-पत्र के साथ है, यह मैं देख रहा हूं। लेकिन उनसे मैं कहना चाहता हूं कि यदि वे केवल दिल्ली तक ही इस शपथ से खुद को बंधा मानते हैं तो यह बहुत बड़ा धोखा होगा... मैं जानता हूं कि आज हिंदुस्तान में ऐसा धोखा आम चलता है... लेकिन मैं बता देना चाहता हूं कि मुझे जब भी, जहां भी जरूरत लगेगी, मैं फिर से उपवास शुरू कर दूंगा ...पाकिस्तान से भी कई संदेश आए हैं। कहीं से भी असहमति का स्वर नहीं है... सत्य ही ईश्वर है और वह हमें उसी तरह सद् बुद्धि दे जिस तरह पिछले छह दिनों में दी है।... 18 जनवरी को 12.25 मिनट पर, मौलाना आजाद के हाथों संतरे का रस पी कर गांधीजी ने उपवास खत्म किया।

तुम्हारा बम : हमारी गोली

आप्टे, बडगे और बडगे का नौकर शंकर, तीनों 20 जनवरी की सुबह बिरला भवन का मुआयना करने पहुंचे। शाम में सातों षड्यंत्रकारी, नाथूराम गोडसे, नारायण आप्टे, गोपाल गोडसे, विष्णु करकरे, मदनलाल पाहवा, बडगे और शंकर दिल्ली के मरीना होटल में मिले। आप्टे ने पूरी योजना सबको सुनाई। योजना इस तरह

थी : मदनलाल पाहवा बिरला भवन की पीछे की दीवार से बम फेंकेगा। प्रार्थना सभा में अफरातफरी मच जाएगी। इसका फायदा उठाकर, सबकी नजर से बचते हुए मैं, बडगे और शंकर नौकरों के कमरे की खिड़की के पीछे से गांधीजी को गोली मारेंगे और दोनों अपना हथगोला भी गांधीजी पर फेंकेंगे। गोपाल गोडसे, पाहवा और करकरे भी अपना बचा हुआ बम गांधीजी पर डालेंगे। अगर गांधीजी गोलियों की मार से किसी तरह बच भी जाते हैं तो बमों से बचना नामुमकिन होगा। संभवतः इसी झपाटे में सुहरावर्दी भी मारे जाएं। आप्टे ने कहा कि वह और नाथूराम गोडसे सही समय पर इशारा करेंगे ताकि सभी एक साथ हमला कर सकें।

शाम को बडगे जब बिरला भवन पहुंचा तो प्रार्थना शुरू हो चुकी थी। उसने जब वह कमरा देखा जहां से गोली चलानी थी, तो उसे लगा कि वहां से भाग पाना मुमकिन नहीं होगा। उसने अपनी गवाही में बाद में बताया कि उसने गोडसे और आप्टे को जल्दी-जल्दी में समझाया कि वह सामने से गोली चलाएगा और शंकर, जो उसका नौकर था और जो उसका ही आदेश मानता था, वह भी सामने से ही गोली चलाएगा। गोडसे और आप्टे ने इस आखिरी बदलाव को स्वीकार कर लिया क्योंकि उनकी समझ में आ गया कि इस योजना से बडगे और पाहवा बड़ी आसानी से मुख्य आरोपी बन जाएंगे। लेकिन बडगे आखिर-आखिर में आ कर या तो डर गया या उसने इनसे पल्ला झाड़ने की सोच ली। उसने अपनी और शंकर की रिवॉल्वर और हथगोले एक तौलिये में लपेटकर थैले में रखे और वह थैला टैक्सी के पीछे की सीट के नीचे सरका दिया। उसके बाद वह गोडसे और आप्टे के साथ प्रार्थना-सभा में पहुंचा। उसके दोनों हाथ जेब में थे, मानो वह हमले के लिए तैयार हो।

गांधीजी अपने उपवास की वजह से काफी कमजोर हो गए थे। उन्हें कुर्सी पर बिठाकर प्रार्थना सभा में लाया गया। उनकी आवाज भी काफी कमजोर थी और उस दिन माइक भी चल नहीं रहा था। इसलिए वे जो भी बोल रहे थे, डॉ. सुशीला नैयर उसे अपनी ऊंची आवाज में दोहरा कर सबको सुना रही थीं। उन्होंने धीमी आवाज में कहा कि मैं आशा करता हूं कि जिन्होंने भी शांति की शपथ उठाई है उन्होंने ईश्वर रूपी सत्य को साक्षी मान कर उठाई है। मैंने सुना है कि जिन्होंने हिंदू महासभा की तरफ से शपथ उठाई थी,

उन्होंने उसका परित्याग कर दिया है। यह बहुत दुःख की बात है। फिर उन्होंने अपने दोनों शिष्यों और भारत सरकार के दो सबसे बड़े सदस्यों, प्रधानमंत्री नेहरू और उप-प्रधानमंत्री सरदार पटेल के बारे में बताया कि वे सबको बता देना चाहते हैं कि जो मुसलमानों का दुश्मन है, वह देश का दुश्मन है। ...इसी वक्त श्रोताओं में बैठे आप्टे ने पाहवा को इशारा किया कि वह अपना काम शुरू कर दे। पाहवा ने तय योजना के मुताबिक हथगोले की रस्सी जला दी। इधर उनकी जान लेने वाले बम की रस्सी जल रही थी, उधर गांधीजी अमरीका और भारत में अल्पसंख्यकों के प्रति हो रहे व्यवहार की तुलना कर रहे थे। उन्होंने कहा, "अमरीका में आज भी कालों के प्रति गुलाम-सा व्यवहार किया जाता है, इसके बावजूद अमरीका सामाजिक समानता की बड़ी-बड़ी बातें करता है। वे लोग अपने ही हाथों हो रहे अन्याय को नहीं पहचानते हैं। मुझे लगता था कि हम उनसे बेहतर हैं और हम वैसा नहीं करेंगे, पर देखो, यहां भी क्या हो रहा है..."

और तभी जोरों का धमाका हुआ। पूरा प्रार्थना-स्थल हिल गया। धुंए और धूल से पूरा माहौल भर गया। थोड़ी भगदड़ भी हुई। गोडसे बंधु, आप्टे और करकरे व्याकुलता से इंतजार कर रहे थे कि बडगे और शंकर गांधीजी पर अगला वार करेंगे। लेकिन वैसा कुछ नहीं हुआ। गांधीजी ने हाथ के इशारे से लोगों को शांत किया। सभी वापस प्रार्थना में बैठने लगे। लोगों ने पाहवा को पकड़ लिया था, सो वह पुलिस को सौंप दिया गया। बाकी छह उस भीड़ में गुम हो गए।

बिरला भवन में ही मदनलाल पाहवा से प्रारंभिक पूछताछ हुई। वह एक ही बात बार-बार दोहराता रहा, "मुझे गांधीजी की दोस्ती और शांति बनाए रखने की नीति पसंद नहीं थी।"

जान बच जाने की खुशी जाहिर करते हुए सब ओर से गांधीजी को बधाई के संदेश मिलने लगे। लेडी माउंटबेटन ने भी इस बहादुरी के लिए गांधीजी की प्रशंसा की, तो गांधीजी ने कहाः "यह बहादुरी नहीं थी ! मुझे कहां पता था कि कोई जानलेवा हमला होने को है ! बहादुरी तो तब कहलाएगी जब कोई सामने से गोली मारे और फिर भी मेरे मुख पर मुस्कान हो, मुंह में राम का नाम हो !!" पाहवा के लिए उन्होंने कहा कि उस युवक को दोष नहीं देना चाहिए। उसने तो यह मान लिया है कि मैं हिंदू धर्म का दुश्मन हूं। वह कह रहा है कि उसने यह काम भगवान के नाम पर किया है; तब तो उसने भगवान को भी अपने इस दुष्कर्म का भागीदार बना लिया है। पर ऐसा तो हो नहीं सकता। इसलिए जो उसके पीछे हैं या जिन्होंने उसे हथियार बनाया है मैं उनसे कहना चाहता हूं कि ऐसा सब करने से हिंदू धर्म बच नहीं सकता है।

कर्जन विली के 1909 के हत्याकांड की तरह इस बार भी गांधीजी पहचान रहे थे कि हत्यारा कहीं परदे के पीछे छिपा है। सच्चाई तो यही थी- इन दोनों हत्याओं के पीछे एक ही व्यक्ति की प्रेरणा थी- विनायक दामोदर सावरकर ! गांधीजी को ऐसी गलतफहमी थी ही नहीं कि पाहवा की गिरफ्तारी से सारे खतरे टल

गए। जब मनु ने कहा कि यह किसी पागल का कारनामा है, तो गांधीजी ने तीखा जवाब दिया, "तुम मूर्ख हो ! क्या तुम्हें दिखाई नहीं देता कि यह एक भयानक साजिश का हिस्सा है ?" घटना के बाद सभी अपने-अपने कामों में लग गए। गांधीजी भी अपनी तरफ आती मौत से मिलने की तैयारी में लग गए।

बम का प्रयास विफल होने के बाद तुरंत ही नाथूराम गोडसे और नारायण आप्टे मुंबई लौट गए। विष्णु करकरे भी साथ आ जुड़े। दिल्ली में बम की विफलता को, हत्यारों के प्रतिनिधि अखबार 'हिंदू राष्ट्र' ने मुख्य समाचार के रूप में इस तरह छापाः "गांधीजी की मुस्लिम तुष्टीकरण की नीति के विरोध में हिंदू शरणार्थी का सांकेतिक प्रतिरोध !" शरणार्थी की आड़ लेना उस समय सबसे ज्यादा तार्किक था क्योंकि शरणार्थी मदनलाल पाहवा ही तो था कि जो घटनास्थल से पकड़ा गया था।

दिल्ली पुलिस थाने में मदनलाल ने पूरी साजिश कबूल कर ली। उसने सारे घटनाक्रम का सिलसिले से ब्यौरा भी दिया लेकिन वह कितनी चालाकी से बात कर रहा था इसका अंदाजा इससे लगाया जा सकता है कि उसने पुलिस को अपने साथ के लोगों के नाम एकदम बदलकर बताए- करकरे को किरक्री बताया, बाकी छह लोगों की भी पहचान तो उसने बताई लेकिन उतनी ही बताई जितने से सीधा कुछ पता न चले- 'हिंदू राष्ट्र' या 'अग्रणी' का संपादक कहा लेकिन नाथूराम गोडसे का नाम छिपा गया। पाहवा ने पुलिस को दिल्ली के उस मरीना होटल तक भी पहुंचाया जिसमें एस. और एम. देशपांडे के नाम से गोडसे और आप्टे ने कमरा किराये पर लिया था। हत्या की आखिरी पक्की योजना इसी कमरे में बनी थी। कमरे की तलाशी में पुलिस को एक प्रेस विज्ञप्ति मिली, जो हिंदू महासभा के नेता आशुतोष लाहिरी के नाम से जारी की गई थी। उसमें भी लिखा गया था कि हिंदू महासभा गांधीजी की मुसलमानों के प्रति नीतियों का विरोध करती है। यह एक जरूरी, लिखित सुराग था जो गांधी-हत्या के इस प्रयास से हिंदू महासभा को जोड़ता था। होटल की लांड्री में जो कपड़े धुलने दिए गए थे उस पर अंग्रेजी में 'एन.वी.जी.' लिखा था जिसका सीधा मतलब था: नाथूराम विनायक गोडसे। सारी-की-सारी जानकारियां खुद ही बता रही थीं कि गांधीजी के भावी हत्यारे कौन हैं; और इसी से जुड़ा था पाहवा का वह खौफनाक बयानः "वे लोग फिर आएंगे !" वही हुआ। नाथूराम गोडसे, आप्टे और करकरे 30 जनवरी को गांधीजी की हत्या पूरी करने के लिए फिर दिल्ली लौटे।

यह कैसे हुआ ?

दोषी को खोजना, उसके बयानों के सूत्रों के आधार पर खोजबीन करना, गुनाहगारों की शिनाख्त करना और केस तैयार करना- यह सब पुलिस के हाथ में था। पाहवा ने पुलिस को बता भी दिया था कि "वे फिर आएंगे।"

एक और जरूरी तथ्य ! 20 जनवरी को बम से हत्या की इस कोशिश के एक सप्ताह पहले भी हत्या की साजिश की पूरी जानकारी मदनलाल पाहवा ने बताई थी। पाहवा ने, मुंबई में वह जिनके यहां काम करता था उन प्रोफेसर जे. सी. जैन को हत्या की पूरी योजना के बारे में बताया था और कहा था कि वह खुद लोगों का ध्यान भटकाने के लिए बम फेंकेगा और उसके दूसरे सहयोगी अफरातफरी का फायदा उठाकर गांधीजी की हत्या करेंगे। जैन साहब को लगा था कि पाहवा कहानी बना रहा है लेकिन जब उन्होंने 21 जनवरी के अखबार में पाहवा की गिरफ्तारी और बम से हमले की खबर पढ़ी तो भौंचक्के रह गए। वे तुरंत ही मुंबई के मुख्यमंत्री बी. जी. खेर और मुंबई के गृहमंत्री मोरारजी देसाई से मिले। सरकार के दो सबसे मुख्य व्यक्तियों तक गांधी-हत्या के षड्यंत्र की खबर उन्होंने हत्या से एक सप्ताह पहले ही पहुंचा दी थी- "पाहवा के अनुसार षड्यंत्रकारियों की एक टोली है जिसे अहमदनगर के किसी करकरे से पैसा मिल रहा है," जैन साहब ने यह भी बताया कि पाहवा और उसकी टोली का संबंध सावरकर के साथ है, जिनसे वे सब अक्सर मिलते भी रहते हैं तथा सावरकर उनकी हौसला अफजाई करते हैं।

मोरारजी देसाई को इस षडयंत्र के पीछे सावरकर का हाथ होने की शंका थी। उन्होंने जैन से मिली जानकारी उसी रात डिप्टी पुलिस कमीशनर जे. डी. नागरवाला को दी और तीन आदेश भी दिए- सबसे पहला कि करकरे को गिरफ्तार करें (करकरे के ऊपर पहले से किसी दूसरे मामले में गिरफ्तारी का आदेश था भी); दूसरा, सावरकर पर तथा उनके घर पर कड़ी निगरानी रखी जाए और तीसरा, इस षड्यंत्र में और कौन-कौन शामिल हैं, यह पता किया जाए। मोरारजी देसाई ने यह भी बताया कि जैन द्वारा दी गई जानकारी उन्होंने दूसरे ही दिन, 22 जनवरी 1948 को, देश के उप-प्रधानमंत्री / गृहमंत्री वल्लभ भाई पटेल को अहमदाबाद में दी। सरकार के सुरक्षा-तंत्र के लिए सरदार ही जिम्मेवार थे।

बम की इस घटना के तुरंत बाद पटेल गांधीजी की सुरक्षा व्यवस्था बढ़ाना चाहते थे। उन्होंने गांधीजी से कहा कि वे प्रार्थना-सभा में आने वाले हर किसी की पुलिस द्वारा शारीरिक जांच करवाना चाहते हैं। गांधीजी ने इससे साफ इनकार कर दिया। उन्होंने कहा कि "मेरा धर्म मुझे इस बात की इजाजत नहीं देता है कि मैं प्रार्थना के समय किसी मनुष्य की सुरक्षा पर निर्भर रहूं। प्रार्थना में मैं ईश्वर की शरण में हूं और वही मेरी एकमात्र सुरक्षा है।" प्यारेलाल ने लिखा है कि गांधीजी के सामने सरदार को हथियार डालने पड़े। परेशान पटेल ने सब "नसीब पर छोड़ दिया।"

जिस तरह देश के गृहमंत्री ने गांधीजी को उनके "नसीब पर" छोड़ दिया, हत्यारों ने वैसा नहीं किया। वे सभी फिर से एकजुट हुए, उन्होंने एक-एक कर अपनी सारी तैयारियों की समीक्षा की और अपने गुरु से आशीर्वाद भी लिया। गांधीजी की हत्या के बाद संसद में सरदार पटेल के इस रवैये पर सवाल उठे। 6

फरवरी 1948 को संसद का एक विशेष सत्र इसी संदर्भ में बुलाया गया। सांसद रोहिणी कुमार चौधरी पटेल से सवाल पूछा: "पुलिस जिस व्यक्ति की सुरक्षा की जिम्मेवारी लेती है, क्या कभी उसकी सुविधा या उसकी राय पूछती है या उस आधार पर काम करती है ? जहां सुरक्षा का मामला होता है वहां गवर्नर हो या गवर्नर जनरल, किसी की भी सुविधा या राय नहीं देखी-सुनी जाती।"

सरदार पटेल ने जवाब दिया, "यहां जिस आदमी की सुरक्षा की बात हम कर रहे थे, वह एक अलग ही आदमी था, किसी दूसरी ही कक्षा का व्यक्ति था। उनकी सलाह व सहमति के बिना पुलिस के लिए या हमारे लिए कुछ भी करना असंभव था।" यह बात सच थी लेकिन क्या इससे गृहमंत्री सरदार पटेल महात्मा गांधीजी की सुरक्षा की जिम्मेवारियों से मुक्त हो सकते थे ? गांधीजी की सहमति से सरकार ने बिरला भवन का सुरक्षा घेरा बढ़ा दिया था। गांधीजी ने नेहरू और पटेल का मन देखते हुए इस बात के लिए सहमति दे दी। क्या ऐसी ही कुछ दूसरी व्यवस्थाओं के बारे में आग्रह नहीं किया जाना चाहिए था ? गांधीजी के आग्रह के सामने सरकार का भी कोई आग्रह होना चाहिए था। 1970 में गांधी-हत्या की जांच के लिए सरकार ने जस्टिस जे.एल. कपूर की अध्यक्षता में कपूर कमीशन का गठन किया। प्यारेलाल ने इस कमीशन को यही कहा कि "बम की घटना के बाद, पुलिस द्वारा सुरक्षा के कोई विशेष कदम उठाए गए हों तो मुझे उस बारे में कोई जानकारी नहीं थी।" प्यारेलाल का यह कहना जरूर था कि यदि समय रहते मदनलाल पाहवा ने अपने बयान में जिन लोगों का जिक्र किया था उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया होता तो इस हत्या को टाला जा सकता था। "जो गिरफ्तारियां सबसे पहले और सामान्य पुलिस कार्रवाई के तहत हो जानी चाहिए थीं, वे क्यों नहीं की गई ?" सरदार के पास इन सबका कोई जवाब नहीं था।

21 जनवरी को ही दिल्ली और मुंबई, दोनों की ही पुलिस के पास षड्यंत्र के मुख्य किरदारों की भूमिका वाले पूरे बयान पहुंच चुके थे। फिर भी अगले नौ दिनों तक हत्यारे खुलेआम न सिर्फ घूमते रहे, सावरकर के यहां आते-जाते रहे बल्कि उनमें से तीन आप्टे, गोडसे और करकरे 30 जनवरी को फिर से गांधीजी की प्रार्थना-सभा में लौटे ही नहीं बल्कि योजना के मुताबिक गोडसे ने गांधीजी को गोली भी मारी। यह सब तब भी बहुत विचित्र था; और आज भी उतना ही विचित्र लगता है। गिरफ्तारियां क्यों नहीं हुईं, तब भी यह समझना मुश्किल था, आज भी मुश्किल है।

20 जनवरी के बम वाले हमले के बाद, 21 जनवरी को दिल्ली के इंस्पेक्टर जनरल टी. जी. संजेवी ने अपने दो अफसरों को मुंबई भेजा। उन्हें निर्देश दिया कि वे मुंबई के डिप्टी कमिश्नर नागरवाला को पाहवा के इकबालिया बयान की पूरी जानकारी दें। उन दो अफसरों ने बताया कि जब वे नागरवाला के पास पहुंचे और ऐसे एक गंभीर षड्यंत्र की जानकारी उन्हें दिल्ली के इंस्पेक्टर जनरल के हवाले से दी तो नागरवाला

महज औपचारिकतावश उन्हें सुनते रहे। उन्होंने भी नागरवाला को ऐसी कोई जानकारी नहीं दी कि जिससे हत्यारों को पहचाना जा सके। उन दोनों को मालूम था कि पाहवा ने करकरे का नाम लिया है और पुणे से छपने वाले अखबार 'हिंदू राष्ट्र'/'अग्रणी' के संपादक का नाम भी बताया है । लेकिन उन्होंने नागरवाला को यह सब नहीं बताया। नागरवाला ने भी उन दोनों अफसरों को मुंबई में मिल रही जानकारी के बारे में कुछ भी नहीं बताया जबकि नागरवाला के पास प्रोफेसर जैन का वह पूरा बयान धरा था जिसमें उन्होंने पाहवा, करकरे और सावरकर के साथ उनके संबंधों की पूरी जानकारी दी थी। साधारण-सी समझ रखने वाला कोई आदमी भी यदि इन सारे सबूतों को जोड़ कर देखेगा तो समझ लेगा कि सावरकर के शिष्य, सावरकर की सलाह व जानकारी में गांधीजी की हत्या की साजिश कर रहे हैं। लेकिन पुलिस के प्रशिक्षित पेशेवर आला अधिकारी ऐसा कुछ भी न समझ सके, न कर सके। दोनों पुलिस-पक्षों ने बाद में यह बयान दिया कि सामने वाला पुलिस तंत्र जांच में असहकार कर रहा था।

दिल्ली पुलिस बिना किसी कार्रवाई के मुंबई जाकर दिल्ली लौट आई। उसने इतना भी नहीं किया कि पुणे पुलिस को 'हिंदू राष्ट्र'/'अग्रणी' के संपादक के बारे में या उनके सहयोगियों के बारे में सावधान कर दे। उसने दिल्ली लौट कर अपने असफल मुंबई दौरे की रिपोर्ट लिखी और फाइल में लगा दी।

अब गांधीजी के पास जीने के पांच दिन बचे थे।

पुलिस वालों का अहंकार

इधर नागरवाला मोरारजी देसाई के आदेशानुसार सावरकर के घर पर नजर रखे हुए थे। वे सब कुछ कर रहे थे सिवा 'सावधान नजर' रखने के। अपनी पहली रिपोर्ट में नागरवाला ने लिखा भी कि इस पूरी साजिश के पीछे सावरकर का हाथ है। सावरकर राजनीति से बाहर होने का और बीमारी का बहाना बना रहे हैं। 25 जनवरी को दिल्ली के इंस्पेक्टर जनरल संजेवी मुंबई के डिप्टी इंस्पेक्टर जनरल यू. एच. राणा से, जो कि संयोग से दिल्ली में थे, मिले। संजेवी ने राणा को पाहवा के 24 जनवरी के ताजा बयान दिए। जांच एजेंसी के नाते यह वह जिम्मेवारी थी जिसे दिल्ली पुलिस को प्राथमिकता से, व्यक्तिगत पहल करते हुए मुंबई पुलिस तक पहुंचानी थी। लेकिन उसने ऐसा कुछ नहीं किया। संयोग से मुंबई पुलिस का अधिकारी दिल्ली में मिल गया तो हमने उसे कागज पकड़ा दिया, ऐसा यह मामला बना जबकि यह ऐसा मामला था नहीं। पाहवा ने अपने इस ताजा महत्वपूर्ण बयान में न केवल 'हिंदू राष्ट्र' के संपादक (नाथूराम गोडसे) का नाम लिया था अपितु उसके प्रकाशक (आप्टे) को भी इस साजिश में शामिल बताया था। अब आप देखें कि यू.एच. राणा साहब इस संवेदनशील सूचना को पाने के बाद, एक बड़े जिम्मेवार पुलिस अधिकारी के नाते क्या करते हैं। वे इस संवेदनशील सूचना को लेकर अपने मिशन के लिए निकल पड़ते हैं- वह

मिशन, जो समय के साथ प्रतिस्पर्धा तो कर ही रहा था बल्कि जो तत्परता के साथ किया जाता तो गांधीजी का जीवन बचा भी सकता था। लेकिन राणा साहब इस मिशन पर प्लेन की जगह ट्रेन से निकले; और वह भी उस ट्रेन से जो दिल्ली से मुंबई पहुंचने में पूरे छत्तीस घंटे लेती थी। इतना सारा समय मिला गोडसे और आप्टे को, जो मुंबई पहुंचकर सावरकर से अपनी अगली चालों के लिए सलाह-मशविरा कर रहे थे और जांच एजेंसियों के रवैये से निश्चिंत भी थे।

राणा साहब की ट्रेन उन्हें लेकर 27 जनवरी को मुंबई पहुंची। राणा इधर मुंबई पहुंचे, उधर गोडसे और आप्टे प्लेन से दिल्ली के लिए रवाना हो चुके थे। गांधीजी के पास अब जीवन के तीन दिन रह गए थे।

"मैं शायद न रहूं !"

राणा मुंबई पहुंचकर अपने बॉस नागरवाला से मिले। राणा ने कपूर कमीशन में गवाही देते हुए बताया कि उन्होंने मदनलाल पाहवा का पूरा बयान नागरवाला को दिखाया लेकिन उन्होंने तो उसे पढ़ने की जहमत भी नहीं उठाई । नागरवाला ने अपने बयान में कहा कि उन्होंने राणा का दिया बयान इसलिए नहीं पढ़ा क्योंकि राणा इस बारे में हो रही कार्यवाही से संतुष्ट नजर आ रहे थे। एक बड़े पुलिस अधिकारी का यह रवैया अचरज भरा था क्योंकि मदनलाल पाहवा का बयान, मोरारजी देसाई द्वारा प्रोफेसर जैन के बारे में नागरवाला को दी जानकारी को पुख्ता करने में मदद करने वाला था। अब सवाल यह भी उठता है कि राणा ने पाहवा के बयान वाली वह फाइल नागरवाला को क्यों नहीं दी ? नागरवाला ने अपने पास वह फाइल क्यों नहीं रखी; या उसे पढ़ने की भी जरूरत क्यों नहीं समझी ?

कपूर कमीशन ने पाया कि वे सारी जानकारियां दिल्ली की फाइलों में पहले से मौजूद थीं- 'अग्रणी' अखबार भी, उसका संपादक भी, उसका प्रकाशक भी और इन सबका सावरकर का शिष्य होना भी दिल्ली की फाइलों में दर्ज था। फिर सावरकर को गिरफ्तार क्यों नहीं किया गया ? नागरवाला का एक आधा-अधूरा बयान बताता है कि हत्या से पहले वे सावरकर को गिरफ्तार इसलिए नहीं कर सकते थे क्योंकि इससे महाराष्ट्र में असंतोष फैलता। मतलब यह कि नागरवाला को लगता था कि सावरकर और उनके साथी इतने ताकतवर हैं कि उन्हें रोका नहीं जा सकता था।

27 जनवरी को गांधीजी से मिलने अमरीकी पत्रकार विन्सेंट शीन पहुंचे | दोनों टहलते हुए बातें कर रहे थे और शीन के पास कितने ही सवाल थे। लेकिन गांधीजी ने बात बदलते हुए उनसे कहा, "मैं एक बात साफ कर देना चाहता हूं। मुझे टाइफाइड बुखार है और डॉक्टर मुझे जीवित रखने के लिए इंजेक्शन भी दे रहे हैं पर वे कुछ कर नहीं पाएंगे शायद। हो सकता है कि मेरी मौत ही मानवता की सेवा के लिए

जरूरी हो !" गांधीजी ने अपनी बात पूरी की और शीन की तरफ देखा। शीन ने कोई प्रतिक्रिया नहीं दी तो वे फिर बोले, "मेरी बात समझ में आई कि फिर दोहराऊं ?"

बात लंबी चली। दूसरे विश्वयुद्ध का संदर्भ भी आया तो शीन ने पूछा, "ऐसा कैसे हो सकता है कि सही उद्देश्य के लिए होने वाले युद्ध का परिणाम इतना भयंकर हो ?"

गांधीजी बोले, "साधन का सवाल है ! आप साध्य को साधन से अलग नहीं कर सकते।" यही तो उन्होंने लंदन में सावरकर से भी कहा था, जब स्वतंत्रता के लिए राजनीतिक हत्याओं का सवाल उठ खड़ा हुआ था। अब साध्य-साधन का वही रिश्ता गांधीजी शीन को समझा रहे थे, "अगर आप हिंसक साधनों का इस्तेमाल करेंगे तो बुरा परिणाम ही मिलेगा।"

"क्या यह हर जगह व स्थान के लिए सही है?" शीन ने पूछा।

"मुझे तो ऐसा ही लगता है !" गांधीजी ने जवाब दिया, "किसी अच्छे काम का नतीजा बुरा हो ही नहीं सकता है, और बुरे काम का, भले वह किसी भलाई के लिए किया गया हो, नतीजा अच्छा हो ही नहीं सकता है।" शीन ने फासिज्म के खिलाफ लड़े गए विश्वयुद्ध की बात की, "उसका ऐसा नतीजा सामने आया !" गांधीजी रुके, शीन की तरफ झुके और शांत किंतु उदास आवाज में बोले, "तुम्हारा साध्य हो सकता है कि अच्छा हो लेकिन तुम्हारे साधन बुरे थे। नहीं, ऐसे रास्तों से तुम सच्चाई तक नहीं पहुंच सकते !" इसके बाद गांधीजी ने शीन से प्रातिनिधिक लोकतंत्र की बात की और कहा कि इसमें जो लोग भ्रष्ट आचरण के दोषी हों उन्हें कुर्सी से उतारने का काम जनता का है।... इसका कोई रिश्ता सत्ता से नहीं है।"

शीन ने गांधीजी से दोबारा मुलाकात का समय मांगा। गांधीजी ने कहाः तुम्हें खुला निमंत्रण है, जब मिलना चाहो !" फिर दुश्मन को भी पिघला दे, ऐसी सौम्य आवाज में उन्होंने शीन से कहा, "लेकिन अगर मैं समय देने के हाल में ही न रहा तो तुम समझ पाओगे न ?" अमरीका लौटने के बाद शीन ने अपनी इस दिव्य मुलाकात के बारे में लिखा।

अगली रात, 29 जनवरी की रात सोने से पहले गांधीजी को खांसी का बेदम करने वाला दौरा पड़ा। अपनी सांस पर काबू पाते-पाते उन्होंने मनु से कहा: "यदि कोई गोली मार कर मेरी जान ले ले, उसी तरह जिस तरह उस दिन बम फेंका था, और मैं बगैर किसी कराह के भगवान का नाम लेकर मरूं तभी मुझे महात्मा जानना !"

30 जनवरी, उनके जीवन का आखिरी दिन ! कभी हिंदू महासभा के अध्यक्ष रहे और अब जवाहरलाल नेहरू के मंत्रिमंडल के सदस्य डॉ. श्यामा प्रसाद मुखर्जी के पास गांधीजी ने अनुरोध भिजवाया था कि

क्या वे अपने प्रभाव का इस्तेमाल कर, हिंदू महासभा के सदस्यों को भड़काऊ भाषण देने, कांग्रेस के नेताओं की हत्या करने की धमकियां उछालने से रोकने का प्रयास करेंगे। प्यारेलाल ने उन्हें बताया कि डॉ. मुखर्जी ने अपने संगठन को संयमित कर पाने में अपनी असमर्थता जाहिर की है। गांधीजी के चेहरे पर चिंता की रेखाएं गहरी हुईं, वे डॉ. मुखर्जी के जवाब से विचलित हुए।

शाम के चार बजे थे। गांधीजी सरदार पटेल के साथ अत्यंत गहरी चर्चा में डूबे थे। नेहरू के साथ अपने मतभेद के चलते सरदार पटेल सरकार से इस्तीफा देने का निर्णय कर, गांधीजी से चर्चा करने के इरादे से आए थे। गांधीजी का मानना था कि इस सरकार के और देश के भले के लिए नेहरू व सरदार का साथ रहना जरूरी है। उन्होंने सरदार से समझौता करने की बात की और कहा कि वे पंडित नेहरू से बात करेंगे। लेकिन सरदार-नेहरू के बीच की खाई पाटने के लिए उन्हें अपनी मौत का सेतु बनाना होगा, यह किसे पता था ! उनकी मौत ने नेहरू-सरदार के बीच के समझौते पर मोहर लगा दी। उस शाम, गांधीजी की हत्या के बाद नेहरू ने दूसरी बार अपना पिता खोया और पटेल की गोद में फफक-फफक कर रोये। यह वह पिता था जिसकी पीठ के पीछे, उसके इन दोनों बेटों ने देश का बंटवारा कर लिया था। लेकिन वे दोनों जानते थे कि इस पिता ने उन्हें कभी प्यार करना नहीं छोड़ा।

उस रोज पटेल के साथ बातचीत लंबी चली और घड़ी ने 5.10 बजा दिए। कुछ और लोग भी मुलाकात की प्रतीक्षा में थे। गांधीजी ने उन्हें संदेश देने को कहाः “उनसे कह दो कि प्रार्थना के बाद मिलेंगे, अगर मैं जिंदा रहा तो...” वे तेज कदमों से उस प्रार्थना के लिए निकले जिसमें देर से पहुंचना उन्हें सख्त नापसंद था। प्रार्थना-स्थल के रास्ते में खाकी कपड़े पहने नाथूराम गोडसे ने उनका रास्ता रोका, हथेली में दबाई पिस्तौल निकाली और तीन गोलियां मार कर गांधीजी की हत्या कर दी।

गांधीजी की हत्या के असर का विवरण डेनिस डाल्टन ने किया हैः “विभाजन के बाद की सांप्रदायिक हिंसा का शमन करने का काम यदि किसी एक वजह से हुआ हो तो वह गांधीजी की हत्या थी। इस हत्या का वैसा ही असर हुआ जैसा उनके उपवासों का होता था। गुस्से, डर और दुश्मनी से उन्मत्त भीड़ जहां थी वहीं ठिठक गई... सभी एक बार सोचने पर मजबूर हो गए कि यह जो कीमत हमने चुकाई, क्या वह सौदे के लायक थी ? ... अचानक कई तरह की अभिप्रेरणाएं एक साथ काम करने लगी थीं जिनमें दया भी थी, विवेक भी था और साथ ही अपार दुःख और घोर पश्चाताप भी था। सबका मिला-जुला परिणाम यह हुआ कि अंधाधुंध हत्या का देशव्यापी दौर रुक गया। यह असर ही उनके जीवन को भारत की जनता की तरफ से दी गई सबसे बड़ी और सबसे पवित्र श्रद्धांजलि थी। कहूं तो यह स्वराज पर गांधीजी का आखिरी बयान ही था।”

गांधी-हत्या के मुकदमे की सुनवाई के दौरान जज आत्माराम चरण ने पुलिस की भूमिका पर बड़ी कड़ी टिप्पणी की। गांधीजी के पड़पोते तुषार गांधीजी ने सरदार पटेल को दी गई एक खुफिया रिपोर्ट का हवाला देते हुए कहा है कि पुलिस व नौकरशाही के बड़े पदों पर बैठे कई अधिकारी आर.एस. एस. और हिंदू महासभा के खुफिया सदस्य थे। ये सब उसी विचारधारा को फैलाने-बढ़ाने में लगे थे। 20-30 जनवरी के बीच घटी घटनाओं का विश्लेषण करें तो हम पाएंगे कि वहां सब कुछ इस तरह किया जा रहा था ताकि गांधी-हत्या आसानी से हो सके। मानो सब उसे रोकने का नहीं, उसके हो जाने का इंतजार कर रहे थे। इतने सालों बाद भी उन घटनाओं पर नजर डालते हैं हम तो यही समझ में आता है कि गांधीजी की हत्या के लिए जितने दोषी हत्यारे थे, पुलिस उससे कम दोषी नहीं थी।

सावरकर पर सीधा आरोप

फिर यह पूछना या समझना भी जरूरी हो जाता है कि सरकार में बैठे नेता गांधीजी की मौत के लिए कितने जिम्मेदार थे ? प्रधानमंत्री के सुरक्षा अधिकारी जी. के. हंडू ने कपूर कमीशन को बताया कि वीआइपी मामलों में दी जाने वाली सुरक्षा का नक्शा तो पहले से ही बड़ी बारीकी से तैयार होता है, फिर गांधीजी तो राष्ट्रपिता थे ! उन पर लगातार हमले होते रहे थे, और सरकार के पास जानकारी थी कि वे खतरे में हैं। गांधीजी ने अपने यहां आने वालों की शारीरिक जांच पर ऐतराज किया था पर सरकार उनके आसपास सुरक्षा घेरा बनाए तो उनको आपत्ति नहीं थी। हंडू साहब ने कहा कि गांधीजी की सुरक्षा के लिए सादे कपड़ों में सुरक्षाकर्मियों की दो कतारें बनाई जानी चाहिए थीं- एक वह जो गांधीजी से 25 गज की दूरी पर रहती और दूसरी वह जो गांधीजी से 2-3 गज की दूरी पर रहती। सरदार पटेल ने इन विकल्पों का पूरा इस्तेमाल क्यों नहीं किया ? 20 और 30 जनवरी के बीच उनको वह सब करना ही चाहिए था जो उन्होंने 30 जनवरी को गांधीजी की हत्या के बाद, अपनी सुरक्षा के लिए किया। जब सबसे नाजुक समय था और सबसे सावधानी से फैसले लेने की जरूरत थी तब वे अपनी जिम्मेवारी से चूके और हमने उसे खो दिया जिसे वे खुद भी, पूरा देश भी और सारी दुनिया भी पूजनीय मानती थी।

सावरकर पर भी गांधीजी की हत्या का सीधा आरोप लगा था। दिगंबर बडगे ने सरकारी गवाह बनने पर गोडसे और आप्टे के सावरकर से लगातार मिलने और निर्देश प्राप्त करने की बात बताई थी। अदालत ने कहा कि कोई संतोषजनक सबूत न मिलने के कारण हम सावरकर को निर्दोष करार दे रहे हैं। गोडसे और आप्टे, दोनों आखिर तक सावरकर का बचाव करते रहे और यही कहते रहे कि इस हत्या के साथ सावरकर का कोई संबंध नहीं है। सावरकर ने अपने बचाव में 57 पन्नों का बयान पढ़ा। उसमें उन्होंने

खुद को आत्मबलिदानी और देशभक्त बताया, अपने ऊपर लगे सारे आरोपों का खंडन किया और किसी समय गांधीजी की प्रशंसा में दिया गया अपना पुराना बयान भी सबूत के तौर पर पेश किया।

सावरकर का बचाव करने वाले वकील पी. एल. इनामदार भी अपने बचाव में किए गए सावरकर के इस नाटक से अचंभित रह गए। सावरकर उसी कठघरे में बैठे थे जिसमें नाथूराम गोडसे भी बैठे थे। उन्होंने पूरे समय यह दिखावा किया मानो वे इस आदमी को जानते तक नहीं हैं। गोडसे ने जरूर अपने दोस्तों को बताया कि वे किस तरह सावरकर की अपनत्व भरी एक नजर और स्पर्श के लिए तरस गए थे। लेकिन सावरकर के प्रति अपनी वफादारी में नाथूराम ने कोई दरार नहीं पड़ने दी।

आलोचकों का कहना है कि हमें गोडसे का आखिरी बयान कहकर जो दिखाया व सुनाया जाता है, दरअसल वह भी उनके गुरु सावरकर ने ही लिखा था और गोडसे के नाम से जारी किया था। यह बहुत जरूरी था क्योंकि सावरकर को भी पता था और नाथूराम को भी कि यही बयान बाद के वर्षों में उनका सबसे बड़ा बचाव करेगा। सावरकर का भाषा और लेखनी पर जो गजब का अधिकार था, वे भावावेश की जैसी लहरें उठाते थे और भ्रमजाल रचते थे, वह सब नाथूराम के आखिरी बयान में ज्यों-का-त्यों मिलता है।

जज आत्माराम चरण ने राष्ट्रपिता की हत्या के आरोपी नाथूराम गोडसे को अपने बचाव में नौ घंटों तक बोलने दिया। उन्होंने गोडसे को पूरा मौका दिया कि वह एक महान आदमी की नृशंस हत्या को दर्शन का जामा पहना कर लोगों की भावना भड़का सके। हत्यारों की राजनीतिक ताकत का और सरकारी पक्ष के भयभीत होने का यह अशोभनीय दृष्टांत अदालत ने बनने दिया तो क्यों ? जज ने अदालत का मंच इस्तेमाल करने की इजाजत गोडसे को क्यों और कैसे दे दी ? भरी अदालत में एक हत्यारा उस आदमी को ज़लील करता रहा जो हमारा राष्ट्रपिता भी था और जो अपनी बात कहने के लिए अब दुनिया में था ही नहीं ! अदालत में अजीब ही नजारा था कि आरोपी खुद गांधीजी पर अभियोग लगा रहा था, उसका औचित्य सिद्ध कर रहा था और उस आदमी को बेशर्मी से कठघरे में खड़ा कर रहा था जिसकी उसने अभी-अभी, सारी दुनिया की आंखों के सामने हत्या की थी। और अदालत ? और सरकारी वकील ? सब दर्शक बने सुन रहे थे और वे सारी बातें लोक-मन में घर करती जा रही थीं। जब यह सब चल रहा था, तभी समझने वाले समझ गए थे कि यह जज सावरकर को हत्या के आरोप से साफ बरी कर देगा।

गांधीजी और उनकी अहिंसा का सारा संदर्भ अदालत में खूब उभरा। हत्यारे गांधीजी की हत्या करने के बाद भी अदालत में उन पर लगातार आक्रमण करते रहे । सावरकर और गोडसे के लिए गांधीजी को

मारना पर्याप्त नहीं था, जरूरी था उनकी आत्मा को खत्म करना। वे मानते थे कि गांधीजी की अहिंसा यदि भारत में कबूल हो गई तो उसका मतलब होगा भारत की मृत्यु !

इस पूरे मुकदमे के दौरान सावरकर बिल्कुल उसी तरह पर्दे के पीछे बने रहे जिस तरह वे लंदन में मदनलाल धींगरा की फांसी के दौरान रहे थे। गोडसे का लंबा बयान गांधीजी की अहिंसा पर हर तरह से हमला करता था। उसने अपने बयान में कहा: मैं मानता हूं कि गांधीजी की संपूर्ण अहिंसा हिंदू समाज को नपुंसक बनाएगी, और हिंदू समाज किसी भी प्रकार के विदेशी आक्रमण का, विशेषकर मुसलमानों के आक्रमण का सामना करने योग्य नहीं रह जाएगा। 1946 में सुहरावर्दी की सरकार के समर्थन से, मुसलमानों ने जिस तरह नोआखाली में हिंदुओं का संहार किया, उससे हम लोगों का खून खौलता था। हम इस बात से लज्जित और गुस्सा थे कि उसी सुहरावर्दी को गांधीजी संरक्षण दे रहे थे।"

यह सब कहते हुए गोडसे ने यह सच्चाई छिपा ली कि सावरकर का मूल आदेश तो था कि गांधीजी के साथ-साथ नेहरू और सुहरावर्दी को भी 'खत्म' कर देना है। उसने बताया ही नहीं कि गांधीजी के 'अपराध' की सजा नेहरू और सुहरावर्दी को देने की बात सावरकर ने क्यों कही थी ? वह बार-बार यही कहता रहा कि गांधीजी की हत्या का मुख्य कारण था कि उन्होंने सुहरावर्दी को संरक्षण दिया था। लेकिन बाद में हत्या के कारणों को बार-बार बदला गया क्योंकि झूठ और मक्कारी कभी एक पांव पर चल ही नहीं सकते हैं, बल्कि वे कहीं टिकते नहीं हैं इसलिए ही तो झूठ होते हैं।

गोडसे ने यह भी कहा कि गांधीजी के दक्षिण अफ्रीका से लौटने और आजादी की लड़ाई में शामिल होने की वजह से देश को स्वतंत्रता मिलने में इतनी देर लगी। उसने कहा कि गांधीजी 1914-15 में भारत आए, उससे आठ साल पहले ही आजादी की लड़ाई पूरे देश में फैल चुकी थी। अहिंसा और सत्य के गांधीजी के पागलपन ने इस लड़ाई पर ग्रहण लगा दिया। 1906 से 1918 के बीच एक-एक कर जिस तरह अंग्रेज अफसरों की हत्या हो रही थी, उससे अंग्रेज कांप गए थे। मदनलाल धींगरा जैसे क्रांतिकारियों ने देश का झंडा तब सुदूर इंग्लैंड में लहराया था जब गांधीजी का कहीं नामो-निशान नहीं था। अदालत में नाथूराम गोडसे ने यह सब जो कहा उसमें कुछ भी नया नहीं था। सावरकर वालों की तरफ से और हिंसक रास्ते से क्रांति का प्रयास करने वालों की तरफ से यही सब तो सरे देश में कहा-सुना जा रहा था। लेकिन देश था कि गांधीजी की सुनता था, गांधीजी की करता था।

गांधीजी रात-दिन, सारे देश में घूमते हुए हिंसक क्रांतिकारियों के आरोपों का जवाब दे रहे थे। वे उन्हें संवाद के लिए आमंत्रित करते हुए, उनके रास्ते की निरर्थकता बताते हुए सारे देश में छाते जाते थे। सावरकर के पास इसका कोई काट नहीं था, हिंसक क्रांतिकारी इसके आगे बेबस हो जाते थे। तब देश

में दूसरा कोई नहीं था कि जो रेल के तीसरे दर्जे में अपना आसन जमा कर, देश के हर गांव-नगर-महानगर से संपर्क साधता, हर मंच से और हर अखबार से अपनी बात कहता अथक यात्रा में लगा था। यह विफलता थी जिसे सावरकर पचा नहीं पाते थे और दूसरों के पास जिसका कोई प्रत्युत्तर नहीं था।

सांप्रदायिक दंगों के संदर्भ में गोडसे ने कहा कि मुसलमानों की ज्यादतियों के विरुद्ध यह हिंदुओं की स्वाभाविक प्रतिक्रिया थी जिसे गांधीजी को स्वीकार करना चाहिए था। सावरकर की सीख को गोडसे ने दोहराया कि बदले की भावना भी कभी-कभी उतनी ही आध्यात्मिक और स्वाभाविक होती है जितनी दया की भावना। गोडसे ने गांधीजी की हत्या को समाज की भलाई के लिए किया गया काम बताया। सावरकर की विचारधारा के अनुसार, गांधीजी की हत्या को उसने शास्त्रसंगत, आधुनिक युद्धनीति के अनुरूप और स्वाभाविक प्रतिक्रिया बताया। उसने कहा कि जिस तरह प्राचीन काल में महाभारत और रामायण के युद्ध हुए, आधुनिक काल में इंग्लैंड और अमरीका का, जर्मनी और जापान का युद्ध हुआ वैसा ही युद्ध हमारे यहां भी होना चाहिए था जिसे गांधीजी ने कुंठित कर दिया। युद्ध तो क्रिया और प्रतिक्रिया में से ही पैदा होता है। वह अच्छा भी हो सकता है, बुरा भी लेकिन होता है वह मनुष्य की स्वाभाविक प्रकृति के कारण। गांधीजी मनुष्य की इस स्वाभाविक प्रकृति के खिलाफ बात कर रहे थे। गांधीजी-हत्या को जायज ठहराते हुए गोडसे ने दावा किया कि इतिहास उसके साथ है, क्योंकि इतिहास में बार-बार यह प्रमाणित हुआ है किः

1. विदेशी आक्रमण का अहिंसा से मुकाबला नहीं किया जा सकता। यदि कोई सरकार इसे नीति के तहत अपनाती है, तो उससे देश का विनाश हो जाएगा।

2. सुहरावर्दी जैसे हत्यारों का साथ देना गलत है। दुश्मन की हत्या कर ही देनी चाहिए।

3. स्वतंत्रता पाने और उसे बचाने के लिए हिंसा अनिवार्य है। हत्या और ऐसे अन्य तरीके आधुनिक लड़ाई के मान्य तरीके हैं।

4. क्रूरता के सामने हिंसा स्वाभाविक मानवीय प्रतिकार है। प्रतिकार करने से शासन करना सुगम होता है।

यह वही कुछ था जो सावरकर युवाओं को सिखाते-पढ़ाते थे। गोडसे ने यह भी कहना चाहा कि संभव है कि कुछ लोग गांधीजी की हत्या से असहमत हों लेकिन वे भी मेरे विचारों से असहमत नहीं होंगे। वह कहना यह चाह रहा था कि कातिल के जूते भले आपके न हों लेकिन यदि वे आपके पैर के नाप के हों तो उन्हें पहन लेना समझदारी है।

अदालत ने यह सारा कुछ कहने की इजाजत गोडसे को दी जबकि हत्या के आरोप से इन सबका कुछ भी लेना-देना नहीं था। तब फिर सवाल यह उठता है कि उसी अदालत ने यह जरूरी क्यों नहीं समझा कि गांधीजी-विचार के दार्शनिक पहलुओं की बात भी अदालत के मंच से हो ? ऐसा होता तो इससे कम-से-कम यह साफ संदेश तो जाता कि नया हिंदुस्तान किसी नये ढंग से भी सोच सकता है ! हम खुद से पूछ तो सकते कि हम क्या सच में गांधीजी से ज्यादा गोडसे के विचारों से सहमत हैं ? स्वतंत्र भारत की अदालत ने वह मौका ही गंवा दिया। यह चूक थी या पक्षधरता ?

गांधीजी अंग्रेजों से कह रहे थे कि उनका साम्राज्य गलत है। वे उन्हें यह भी समझा रहे थे कि वे जिस ख्रिस्ती धर्म को मानते हैं वह धर्म मूलतः मानता है कि अहिंसा के रास्ते दुनिया को बदला जा सकता है। 193। में, जब दूसरी गोलमेज परिषद के बाद गांधीजी भारत लौट रहे थे, तब सवेरे की उनकी प्रार्थना में शरीक होने वाले ईसाइयों ने उनसे अनुरोध किया कि वे क्रिसमस दिवस पर अपने हिंदू दोस्त के साथ ईसा मसीह के बारे में बात करना चाहते हैं। गांधीजी सहर्ष राजी हो गए। उन्होंने कहा: एक बाहरी व्यक्ति होने के नाते बाइबल से उनका परिचय लगभग 45 साल पहले, न्यू टेस्टामेंट के माध्यम से हुआ। उन्होंने बचपन से अपने घर में, अपनी मां से जो सीखा वह पहाड़ी पर दिए गए ईसा मसीह के संदेश सरमन ऑन द माउंट से मेल खाता था। बचपन की यही सीख उनके व्यक्तित्व का हिस्सा भी बनती गई। बचपन में उन्होंने सीखा था कि बुराई का प्रतिकार या प्रतिरोध नहीं करना चाहिए। ईसा मसीह की वह एक बात उनके साथ रह गई कि आंख के बदले आंख का सिद्धांत मानवीय समाज का सिद्धांत नहीं हो सकता है। इसके विपरीत कोई अगर आपको एक चांटा मारे तो दूसरे के लिए तैयार रहो; और कोई आपकी तरफ भरोसे का एक कदम बढ़ाए तो आप उसकी तरफ दो कदम बढ़ाओ।

सूली की सच्चाई

गांधीजी ने कहा कि ईसा मसीह ने पहाड़ी पर जो संदेश दिया था वह ख्रिस्ती धर्म का सार है और वही सार उनके हृदय को सबसे प्रिय है भी है। उस संदेश को पढ़ने के बाद मैं इस नतीजे पर पहुंचा कि ख्रिस्ती धर्म अभी साकार होना बाकी है। जब दुनिया से भुखमरी खत्म हो जाएगी, हमारे व्यक्तिगत व व्यावसायिक जीवन में झूठ व संघर्ष की जरूरत नहीं रह जाएगी तब हम कह सकेंगे कि ईसा का जन्म हुआ ! तब हमें किसी एक दिन कोई एक जन्मदिन मनाने की जरूरत नहीं रहेगी बल्कि हम हर दिन एक उत्सव महसूस करेंगे।

उन्होंने अपने ईसाई श्रोताओं को बताया कि जब तक हम सबके लिए शांति की कामना नहीं करेंगे, हमें खुद भी शांति नहीं मिल सकती है। आपको भयंकर संघर्ष के बीच भी अपार शांति का अनुभव हो सकता

है, लेकिन तभी जब आप संघर्षों को मिटाने के लिए खुद को मिटाने की तैयारी कर लेते हैं। वे याद दिलाते हैं, ईसा मसीह किनके लिए और किस तरह सूली पर चढ़े थे, हमें याद रखना चाहिए। इस संघर्षमय जीवन में सूली भी एक अटल सच्चाई है। जीवित ईसा मसीह का मतलब ही है जिंदा सूली, जिसके बगैर जीवन मौत के समान है।

दूसरे विश्वयुद्ध के शुरू होने से पहले, 1938 की शरद ऋतु में, मद्रास में ख्रिस्ती समुदाय की अंतरराष्ट्रीय बैठक हुई। चर्चा का मुद्दा था कि आसन्न युद्ध की स्थिति में ईसा मसीह के संदेश को हमें किस तरह देखना चाहिए। बैठक में कई लोग हजारों मील की दूरी तय करके आए थे ताकि वे एक हिंदू के चरणों में बैठकर, अपने ईसा मसीह को और बेहतर समझ सेकें।

गांधीजी ने उनसे कहा: आप ईश्वर और संपत्ति, दोनों की एक साथ पूजा नहीं कर सकते हैं। ...मैं हमेशा से मानता रहा हूं कि जिस धार्मिक संस्था के पास जरूरत से ज्यादा संपत्ति होगी वह संस्था भगवान पर अपना विश्वास खोती जाएगी। इसलिए आपको संपत्ति पर अपनी निर्भरता खत्म करनी ही होगी। अपने दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह की याद दिलाते हुए उन्होंने कहा कि हमारी जेब में फूटी कौड़ी भी नहीं थी जब हमने 3000 यात्रियों के साथ सफर शुरू किया था। पर हम जरा भी डरे हुए नहीं थे। हमें विश्वास था कि अगर यह अभियान भगवान ने चाहा है तो वही निभाएगा भी। इस बीच ही भारत से पैसों की बरसात होने लगी। मुझे उस पर रोक लगानी पड़ी, क्योंकि पैसा अपने साथ मुसीबतें लेकर आ रहा था। गांधीजी ने जोर देते हुए कहा : सच तो यह है कि जिस वक्त आर्थिक सुरक्षा निश्चित हो जाती है, आध्यात्मिक बरबादी शुरू हो जाती है।

प्रवासी ईसाइयों ने पूछाः हमें गुंडागर्दी कर रहे देशों के साथ क्या करना चाहिए ? उनका इशारा जर्मनी, इटली, जापान आदि की तरफ था लेकिन वे भूल रहे थे कि भारत की नजर में अंग्रेजों का शासन भी इसी श्रेणी में आता था। गांधीजी ने जवाब दियाः जोर-जबरदस्ती के पीछे कितनी भी सही नीयत क्यों न हो, वह हमें उसी दलदल में फंसाती है जिसमें हिटलर और मुसोलिनी फंसे हैं। हमें बुरे-से-बुरे व्यक्ति के हृदय परिवर्तन की कोशिश करनी चाहिए। शुरू में हमें लग सकता है कि हम दीवार में सिर मार रहे हैं। लेकिन जो अहिंसा में विश्वास करते हैं उन्हें उस चुनौती का मुकाबला करना ही चाहिए।

गांधीजी ने विश्वयुद्ध शुरू होने से पहले ईसाइयों से यह सब जो कहा, वही बात उन्होंने युद्ध के बाद विन्सेंट शीन से भी कही। गांधीजी अपने अनुभव से बोल रहे थे। सत्य के अपने प्रयोगों के दौरान, जान की बाजी लगाकर उन्होंने जो पाया था वह था शास्वत सत्य ! वे ख्रीस्तियों से यह उम्मीद कर रहे थे कि ये लोग इस बात को पहचान सकेंगे कि जैसे नैतिक बल न जर्मनी के पास है, न इटली और जापान के पास था वैसे ही

वह ब्रिटिश साम्राज्य के पास भी नहीं है। एक पत्रकार, जो इस चर्चा में मौजूद था, उसने लिखा: गांधीजी यह कहना चाह रहे थे कि ईसा की सूली को हमें नए संदर्भों में समझना होगा। यह कोई मृत प्रतीक नहीं है। वह एक शाश्वत और जीवित मूल्य है, जो हिंसा, जंग और अन्याय का अंत कर सकता है।

गांधीजी का मानना था कि ब्रह्मांड और अहिंसा में पूरी तरह सामंजस्य है : “मेरी राय है कि निष्क्रियता का अहिंसा के साथ कोई मेल नहीं है। अहिंसा को मैंने जिस तरह समझा है उसमें वह एक बेहद सक्रिय ताकत है...एक दैवी विधान है। आधी सदी के अपने अनुभव से मैं यह कह सकता हूं कि आज तक मेरे सामने ऐसी परिस्थिति कभी उत्पन्न नहीं हुई जब मुझे लगा कि मैं असहाय हूं; या कि अहिंसा के रास्ते मुझे मेरी समस्या का हल नहीं मिल रहा है।”

उस दिन की बैठक के मेहमान लौटें इससे पहले गांधीजी ने एक और उदाहरण दिया। यह उन मुसलमान पठानों का उदाहरण था, जो भारत के उत्तर-पश्चिम भाग में रहते थे। आगे चलकर ये ही लोग पाकिस्तान का हिस्सा बन गए। गांधीजी ने कहा: “मैंने जो देखा उसके लिए मैं तैयार नहीं था। वे सभी बहुत ही गंभीर किस्म के लोग हैं और ईमानदारी उनकी रूह में बसी हुई है। कल तक वे संपूर्ण अंधकारमय जीवन जी रहे थे, आज वे ही लोग अहिंसा में उम्मीद और आशा की किरण देखते हैं। वे जंगलों में शेर की तरह रहते थे। एक तरफ हमेशा खंजर, तलवार और बंदूक से लैस रहते थे, तो दूसरी तरफ अपने अफसरों से बेहद खौफजदा रहते थे कि कहीं नौकरी न चली जाए। अब यह सब बदल चुका है। उनकी आपसी खानदानी दुश्मनी और खूनखराबा तब से खत्म हो गया है जब से वे खान साहब की अहिंसक लड़ाई के सिपाही बने हैं।”

उस रोज वे अपनी आखिरी बात प्रार्थना के बारे में कहते हैं: “हम हर रोज सुबह 4.20 और शाम 7 बजे सामूहिक प्रार्थना करते हैं। संगीत के साथ या बिना संगीत के हम यह सर्वधर्म प्रार्थना सालों से कर रहे हैं। व्यक्तिगत भक्ति अलग चीज है लेकिन यह सामूहिक प्रार्थना का अहसास एकदम अलग है। ऐसा एक पल भी नहीं जब मैं उस परमात्मा की मौजूदगी महसूस नहीं करता हूं। मैं उसके साथ ताल मिलाने की लगातार कोशिश करता रहता हूं। मैं अपने ख्रिस्ती दोस्तों की तरह प्रार्थना नहीं कर पाता। इसलिए नहीं कि वह गलत है, बल्कि इसलिए कि आपके वे बोल मेरे लिए सहज नहीं हैं। यह शायद आदत की बात है... भगवान सब जानता है और उसे हमारी जरूरतों का भी पता है। उसे मेरी याचना की भी जरूरत नहीं। लेकिन मैं तो एक अदना इंसान हूं। मुझे उसकी उसी तरह जरूरत पड़ती है जिस तरह एक बालक को अपने पिता की जरूरत होती है। उस पिता ने मुझे कभी निराश नहीं किया। जब क्षितिज सबसे अंधकारमय होता था तभी मैंने उसको अपने एकदम करीब पाया है खासकर कारावास के उन कठिनतम

दिनों में जब दुश्वारियां सबसे अधिक थीं। मेरे जीवन का एक क्षण भी ऐसा नहीं आया है जब मेरा ईश्वर मेरे साथ न हो।"

गांधीजी का यही विश्वास हम उनके अनुयायी मार्टिन लूथर किंग जूनियर में पाते हैं, जब वे कहते हैं, "हम यह जान लें कि ब्रह्मांड की नैतिक कमान लंबी है पर वह न्याय के पक्ष में झुकती है।" मार्टिन लूथर किंग गांधीजी के उसी सवाल को हमारे सामने एक भविष्यवाणी के रूप में रखते हैं: "अब चुनाव केवल हिंसा और अहिंसा के बीच का नहीं रह गया है। अब तो प्रश्न है कि या तो अहिंसा रहेगी या कोई अस्तित्व ही नहीं रहेगा।"

चूक-पर-चूक

1966 में सावरकर की मौत के बाद गांधी-हत्या की जांच कर रहे सरकारी कमीशन ने यह पाया कि शुरू से ही सरकार के पास सावरकर को दोषी साबित करने के लिए पर्याप्त सबूत थे। गांधी-हत्या का मुकदमा शुरू होता इससे तीन महीने पहले ही, 4 मार्च 1948 को सावरकर के अंगरक्षक अप्पा रामचंद्र कसर और उनके सेक्रेटरी गजानन विष्णु दामले ने मुंबई पुलिस को बता दिया था कि हत्या से ठीक पहले गोडसे, आप्टे और सावरकर की संयुक्त बैठक हुई थी। कसर और दामले ने यह भी बताया कि सावरकर जनवरी में दूसरे आरोपियों, करकरे, पाहवा, बडगे और परचुरे से भी मिले थे। जस्टिस जे. एल. कपूर ने अपनी रिपोर्ट में लिखाः महात्मा गांधीजी की हत्या में जितने भी लोग शामिल थे, वे सभी कभी-न-कभी सावरकर भवन गए थे और सावरकर से उन सबकी मुलाकात हुई थी। कपूर कमीशन ने तारीख सहित इन मुलाकातों का विवरण भी दर्ज किया है, जो नागरवाला के 31 जनवरी 1948 को लिखे विवरण से पूरी तरह मेल खाता है। सबूतों के आधार पर कपूर कमीशन की रिपोर्ट इस निष्कर्ष पर पहुंची थी कि इसमें कोई शंका नहीं है कि सावरकर और उनके साथी गांधीजी की हत्या में शामिल थे। पटेल और नेहरू के बीच के पत्र-व्यवहार से भी यह पता चलता है कि गांधी-हत्या में सावरकर का हाथ होने की जानकारी उन्हें भी मिल चुकी थी। इसके बावजूद सरकारी वकील ने कभी भी सावरकर के अंगरक्षक या उनके सेक्रेटरी को गवाही के लिए कठघरे में बुलाना जरूरी नहीं समझा। तब तो पूछने लायक एक ही सवाल रह जाता है कि सरकार ने वे सबूत और उन सारे गवाहों को, जो सावरकर को गांधी-हत्या का दोषी साबित कर सकते थे, क्यों छिपाया ?

इस मुकदमे के दौरान ही एक बहुत ही दिलचस्प लेकिन बड़ी ही हैरान करने वाली बातचीत मुंबई के गृहमंत्री मोरारजी देसाई और सावरकर के वकील के बीच हुई। वकील ने मोरारजी देसाई से पूछा कि प्रोफेसर जैन के बयान के अलावा क्या आपके पास सावरकर के खिलाफ कार्यवाही कर सकने लायक

कोई और भी जानकारी है ? मोरारजी देसाई ने जवाब में कहा कि क्या मैं सब कछ बता दूं ? मैं बताने को तैयार हूं लेकिन मैं कहूं कि नहीं, यह उनको ही (सावरकर को ही) तय करना है। सावरकर के वकील ने वह सवाल तुरंत ही वापस ले लिया, फिर दोहराया नहीं। हां, उस वकील ने जज से यह जरूर कहा कि मुकदमे के रिकार्ड से हमारे बीच की यह बातचीत हटा दी जाए, और यह भी दर्ज न किया जाए कि मैंने ऐसा करने का अनुरोध किया है। जज ने उन सबकी मंजूरी दे दी, जो सावरकर के वकील ने मांगी थी और इस बातचीत को रिकॉर्ड से मिटा दिया गया। अदालती कार्यवाही से भले वह मिटा दिया गया लेकिन उस दिन अदालत में बैठे टाइम्स ऑफ इंडिया के पत्रकार ने इसे नोट भी किया और अपनी रिपोर्ट में छाप भी दिया। कोई पूछे कि मोरारजी देसाई, जो तब भी मुंबई सरकार में गृहमंत्री थे, और जो आगे चल कर जो भारत के प्रधानमंत्री भी बने, उन्होंने अदालत को और देश-दुनिया को वह पूरी जानकारी देना क्यों जरूरी नहीं समझा जिससे गांधीजी की हत्या में सावरकर की संलिप्तता साबित होती ? क्या यह सावरकर तय कर रहे थे कि मोरारजी देसाई अपनी गवाही में क्या बोलें, क्या न बोलें ? और सावरकर का वकील तय कर रहा था कि कोर्ट की कार्यवाही में क्या दर्ज हो, क्या न हो और किसका नाम आए व किसका नहीं ? यह शर्मनाक नजारा था आजाद भारत की उस अदालत का, जहां गांधीजी की हत्या के अपराध और अपराधी की तलाश हो रही थी।

सरदार पटेल का हवाला देते हुए तुषार गांधीजी लिखते हैं कि यह उस समय की राजनीतिक जरूरत थी कि सावरकर बरी हो जाएं और उनके खिलाफ की बातें अनकही ही रह जाएं। सरदार पटेल ने यह बात कबूल की है कि हमारा मानना था कि मुसलमानों को तो हम नाराज कर ही चुके हैं, अब हमें हिंदुओं को नाराज नहीं करना चाहिए। अगर इस हत्या के मामले में सावरकर को सजा होती तो हिंदू अतिवादी अवश्य उत्तेजित होते और कांग्रेस उस परिस्थिति का सामना करने से डरती थी।

एक दूसरा दस्तावेज भी है जिसे हमें देख जाना चाहिए। सावरकर की लिखी आखिरी किताब है ‘भारतीय इतिहास के छह स्वर्णिम पृष्ठ’ | उसमें वे परोक्ष रूप से गांधीजी-हत्या को जायज ठहराते हैं और लिखते हैं कि विदेशियों के आक्रमण से भारत को बचाने के लिए राष्ट्रीय ताकतों को इकठ्ठा करना और समय-समय पर कमजोर भारतीय नेताओं की हत्या करना जरूरी हो जाता है। बिना नाम लिये ही वे यहां गांधी-हत्या को जायज ठहराते हैं लेकिन उसे कबूलने की हिम्मत नहीं करते हैं। सच तो यह है कि सावरकर बेहद चालाक थे। वे जानते थे कि गांधीजी के सोच और उनके प्रभाव को वे कभी सीधी टक्कर नहीं दे सकेंगे। देश ही सारा गांधीजी के साथ था। अपने निजी दुःखों-तकलीफों को भुलाते हुए, उन्हें सहते हुए भी गांधीजी देश के सभी दुखी जनों के साथ जिस तरह खड़े रहते थे वैसी भागीदारी की बात सावरकर

के सपने में भी संभव नहीं थी। उन्होंने न कभी ऐसा किया था, न कर पाते, न ऐसी भागीदारी में उनकी आस्था थी। वे बार-बार देख चुके थे कि उनका हिंदुत्व भी गांधीजी के सत्याग्रह के सामने टिक नहीं पाता है। वे लोगों को भुलावे में डालने की चालाकी कर सकते थे, लोगों के साथ रह, जी नहीं सकते थे। गांधी-हत्या के मामले में उन्होंने यही किया। यह छद्म उनके लिए जरूरी था।

गोडसे और आप्टे की फांसी के बाद सावरकर मुंबई के अपने घर में लौट गए; और फिर वे 17 साल जिए। पहले और इस पूरी अवधि में भी नव स्वतंत्र राष्ट्र या नवजात लोकतंत्र के लिए हम सावरकर को कोई सार्थक पहल या काम करते नहीं पाते हैं।

आजाद भारत की पहली सरकार

आजाद भारत की पहली सरकार के मुखिया बनते ही नेहरू ने गांधीजी के आदर्शों और उनकी विरासत को तिलांजलि दे दी और दुनिया भर की तमाम सरकारों की तरह, उन्हीं रास्तों पर चल पड़े जिन पर दुनिया चल रही थी और जिनकी बड़ी कठोर टीका गांधीजी एकाधिक बार कर चुके थे। अणु हथियारों के समर्थन में उनका एक भाषण 1946 में ही सामने आ चुका था और 10 अगस्त 1948 नेहरूजी की अगुआई में भारतीय परमाणु ऊर्जा आयोग की स्थापना की गई। जैसा सारी दुनिया में होता रहा है, यहां भी हुआ- परमाणु ऊर्जा की आड़ में, परमाणु हथियार बनाया गया। गांधीजी ने कहा था कि अहिंसा ही एकमात्र शक्ति है जिसे परमाणु हथियार भी नहीं मिटा सकते।

नेहरू ने गांधीजी की विरासत संभालने का भ्रम पैदा किया लेकिन यह सारा प्रयास इतना सतही था कि पहले ही झटके में बिखर गया। यह कैसा विद्रूप है कि 1950 में वे परमाणु निरस्त्रीकरण के प्रवक्ता बने; 1954 में वे पहले राज्याध्यक्ष थे कि जिसने परमाणु परीक्षण पर अंतरराष्ट्रीय बंदिश की बात कही लेकिन भारत के पास परमाणु हथियार होगा या नहीं, इस पर नेहरू का सोच बहुत ढुलमुल ही नहीं था बल्कि कुछ दूसरी ही दिशा में था। दूसरी दिशा में उनका यह प्रयाण अपेक्षाकृत आसान हुआ तो इसलिए कि देश की आजादी के छह महीने के भीतर-ही-भीतर गांधीजी की हत्या कर दी गई। एक जो नया रास्ता उभर रहा था, एक नये भारत की कल्पना का अंकुर फूट रहा था, वह सब तीन गोलियों की आग में जलकर भस्म हो गया। अब रोकने-टोकने वाला कोई नहीं था। सारा कुछ गांधीजी के अनुयायियों पर निर्भर था कि वे गांधीजी के सपनों का भारत बनाने की जद्दोजहद करेंगे या नहीं। और यह भी उन पर ही निर्भर था कि गांधीजी की हत्या में जो कुछ अनकहा रह गया था, जो अकथनीय बना दिया गया था और आज भी, आज तक भी अकथनीय ही है, वह संसार के सामने आएगा या नहीं ! लेकिन आजादी के साथ ही यह हवा भी बनाई गई कि अहिंसा पर आधारित जिस भारत की बात गांधीजी करते थे और जिसे वे

स्वराज कहते थे, उसमें और राष्ट्रीय सुरक्षा पर आधारित स्वतंत्र भारत देश की कल्पना में टकराहट हो रही है और हमें वही रास्ता पकड़ना चाहिए जिस पर सारी दुनिया की सरकारें चल रही हैं। जवाहरलालजी ने गांधीजी को आगे रखा और उनकी तरफ पीठ फेर दी।

यह उनका नहीं, हम सबका भी अंतर्विरोध है। गरीबों की पक्षधर और अपने विरोधियों से बेशर्त प्रेम करने वाली गांधीजी की अहिंसक क्रांति अभी तक तो कहीं हुई नहीं है। वह, जो नहीं हुआ है उसे करने में साहस की भी बहुत जरूरत है और खतरा भी कदम-दर-कदम है। वह क्रांति तब तक संभव भी नहीं है जब तक भारत या जो भी देश इस रास्ते जाना चाहता है वह, आज की सत्ता और समृद्धि और सेना और हिंसा से मुंह न मोड़ ले। लेकिन हम सब तो उन मुट्ठी भर लोगों की बातों-करतबों और जुमलों में फंसे हैं कि जो अपनी सुरक्षा व अपनी अकूत समृद्धि की सुरक्षा सुनिश्चित करने के लिए परमाणु हथियारों को राष्ट्रीय सुरक्षा से जोड़ देने का छद्म रचते हैं।

सत्य के प्रयोग करते हुए गांधीजी राज्य के आतंक और क्रांतिकारी के आतंक के अलावा एक तीसरी ताकत की बात करते हैं- सत्याग्रह ! यह वह शक्ति है जो साधन और साध्य के एक होने से सिद्ध होती है। गांधीजी कहते हैं कि साधन और साध्य का रिश्ता उतना ही पवित्र है जितना कि बीज और पौधे का है- तुम जो बोते हो वही काटते हो ! वे एकदम सीधी और सिद्ध बात कहते हैं: जो आतंक बोएगा, वह आतंक की ही फसल काटेगा। यही कारण है कि गांधीजी सावरकर के रास्ते की जाने वाली लड़ाई को एक बहुत बड़ी भूल मानते हैं। किसी अंग्रेज का भारतीय हत्यारा दरअसल ब्रिटिश राज्य पर चोट नहीं करता है बल्कि ब्रिटिश राज्य के आतंक को ही मजबूत करता है। गांधीजी-हत्या के पीछे यही आतंकवादी मानस काम कर रहा था जिससे नवजात स्वतंत्र भारत की जड़ों का सिंचन हुआ। गांधीजी और सावरकर दरअसल परमाणु हथियारों से लैस इस दुनिया के सामने दो विचारधाराओं के प्रतीक के रूप में उभरते हैं: सत्याग्रह या आतंकवाद ?

अपनी सलीब पर गांधी-गोडसे

गांधी-हत्या की करुण पराकाष्ठा यह थी कि वह उनके दो सबसे प्रिय अनुयायियों के शासनकाल में हुई। उनके सरकारी सुरक्षाकर्मी भी अपनी निष्क्रियता के चलते उस हत्या के भागीदार बन गए। 20 जनवरी को हुआ बम का हमला और 30 जनवरी को गरजी पिस्तौल के बीच काफी समय था और राज्य के पास खासी जानकारी भी थी कि जिसके आधार पर हत्यारों को भी और उनके भावी प्रयासों को भी नाकाम किया जा सकता था। लेकिन सरकार, उसका सारा अमला और समाज- कोई भी, और सब मिलकर भी अपने राष्ट्रपिता को नहीं बचा सके। सभी नाकाम साबित हुए।

गांधीजी की मौत के बाद उनके दो सबसे प्रिय सहयोगी जवाहरलाल नेहरू और सरदार वल्लभभाई पटेल सत्ता की दो सबसे बड़ी कुर्सियों पर बैठे तो रहे लेकिन उनकी सारी चमक कहीं खो गई थी। इनका व्यक्तित्व व वजूद ऐसा बिखरा कि फिर कभी समेटा नहीं जा सका। अपने गुरु का आखिरी निर्देश कि उन्हें अलग नहीं होना है, और साथ रहकर सरकार चलानी है, उन दोनों ने निभाया तो लेकिन उनकी संभावनाओं की मौत तो पहले ही हो चुकी थी। गांधीजी के अंत के बाद, तीन साल तक सरदार पटेल रहे और नेहरू के साथ सरकार चलाते रहे लेकिन ये तीन साल बोझ ढोने या बोझ तले दबे होने से अधिक कोई दूसरा सामाजिक संदर्भ नहीं बना सके। वे साथ रहे लेकिन कभी साथ रह नहीं सके।

गांधीजी की मौत का एक दूसरा परिणाम भी आया। सरदार पटेल और पंडित नेहरू, दोनों ही अपने गुरु की चेतना से मुक्त हो गए। उनका देश अब गांधी का देश नहीं रहा। लेकिन उनका रहा क्या ? जो देश अंग्रेजों ने उनको सौंपा वह आजादी की अहिंसक लड़ाई के आदर्शों से पूरित व संचालित गांधी की दिशा खोजने-टटोलने वाला भारत नहीं था। वह भारत ब्रिटिश साम्राज्यवाद के आदर्शों से तालमेल बिठाने में लगा एक शासन-तंत्र मात्र था। सरदार-नेहरू की कांग्रेस पार्टी और सरकार ने वही सेना, वही न्यायपालिका, वही नौकरशाही और उसी पुलिस-व्यवस्था को सीधे-सीधे अपना लिया जिसने लगभग दो सौ सालों तक, आजादी के उन जैसे ही अनगिनत सिपाहियों का दमन किया था। और इतिहास में यह खास तौर पर दर्ज है कि राज्य का यह हिंसक ढांचा विशेष तौर पर गांधीजी-विरोधी था।

गांधीजी के हत्यारों की जांच-परख उसी व्यवस्था को करनी थी, जो आज तक गांधीजी-विरोधियों के ही समर्थन में, उनके ही सहयोग से काम करती आई थी। उनकी हत्या का महाभियोग उस अदालत में चला, जो परोक्ष रूप से सावरकर जैसों के पक्ष में खड़ी थी। वह पुलिस-तंत्र हत्या से पहले हत्यारों को पकड़ने को भी तैयार नहीं था। यह वह सरकार थी कि जो हत्यारों के भंडाफोड़ से होने वाली राजनीतिक प्रतिक्रिया से ही डरी हुई थी। अभियोग की जांच-पड़ताल के दौरान पुलिस-तंत्र ने न अपनी पेशेवराना कुशलता का परिचय देते हुए सभी गवाहों को कठघरे में बुला खड़ा किया, न न्याय-व्यवस्था ने उनकी पक्की और जरूरी जांच के प्रति सावधानी रखी और न सरकार ने अपनी पैनी नजर बनाए रखी कि न कुछ छूटने देंगे, न किसी को चूकने देंगे। सरकार तो अपने पास, अपनी फाइलों में बंद उन सबूतों को भी सामने लाने से डरती रही कि कहीं सावरकर को सजा न हो जाए !

नेहरू और पटेल सरकार के मुखिया तो थे पर उनके नियंत्रण में कुछ भी नहीं था- न सरकार, न उसका कोई भी तंत्र ! यह वह कीमत थी, जो हिंसा पर आधारित सरकारी ढांचे को अपनाने-चलाए रखने के एवज में उन्हें चुकानी पड़ी। वे एक ऐसे गुनाह के भागीदार बन गए, जिसे जानते सब थे, जिसे देखा भी सबने था

लेकिन जिसे कबूलने की, कठघरे में ला खड़ा करने की हिम्मत किसी में नहीं थी; जो अकथनीय था, अकथनीय ही रहा।

सावरकर और गोडसे के लिए गांधीजी को मारना भर पर्याप्त नहीं था, उनके लिए जरूरी था उस विचारधारा को खत्म करना, उस दिशा को रुद्ध करना जिसके प्रणेता गांधीजी थे। नेहरू और पटेल गांधीजी के सत्य के इस आग्रह को कभी समझ नहीं पाए। सत्य, जो कभी पक्ष-विपक्ष में नहीं होता है क्योंकि वह सत्य होता है ! नेहरू-पटेल ने इस सत्य को परे रखकर अपनी सरकार चलानी चाही तो वह कमजोर और खोखली रह गई तो इसमें हैरानी जैसी कोई बात नहीं है। गांधीजी तो यही कह गए थे न कि जो बोओगे वही काटोगे !

यह वही सर्वविदित अकथनीय सच्चाई है जो ईसा की सूली से चलती हुई गांधीजी की गोली तक पहुंचती है। कभी जो सत्ता को दबाने वाली शक्ति के रूप में हमारे सामने थी, आज वही सत्ता की बागडोर संभाल रही है। सावरकर आज केंद्रीय शक्ति हैं।

यह वह ऐतिहासिक अकथ्य है जिसे समझने, समझाने और बार-बार कहने की जरूरत है, क्योंकि हमें गांधी की जरूरत है; क्योंकि हमें नये समाज की और उसे संचालित करने वाली प्रेम व विश्वास की ताकत की जरूरत है | इसके बिना न गांधी समझ में आने वाले हैं, न मानवीय समाज की संभावना ही उभरने वाली है।

(प्रस्तुति : प्रेरणा)

छठी सफलता से पहले

० कुमार प्रशांत

यह कुछ अजीब ही है कि जिन्ना चाहते

थे कि अंग्रेजों के सामने ही उन्हें उनका

पाकिस्तान मिल जाए, भले गांधी विभाजन टालने

की कितनी भी कोशिश करें; आंबेडकर चाहते थे

कि अंग्रेज जाने से पहले भारतीय समाज में दलितों

की स्थिति की गारंटी कर दें, भले गांधी कहते रहें

कि हम खुद ही यह सब कर लेंगे;

सावरकर-कुनबा चाहता था कि अंग्रेजों के जाने से

पहले ही गांधी का काम तमाम कर दिया जाए

ताकि गांधी उनकी राह का रोड़ा न बनें।

इसलिए अंग्रेजों ने जैसे ही भारत से निकलने की

जल्दीबाजी शुरू की, इन सबने भी अपनी-अपनी

कोशिशें तेज कर दी। गांधी पर बार-बार हमले

होने लगे।

30 जनवरी 1948 को जो हुआ वह तो महात्मा गांधी की हत्या के कायर नाटक का छठा अध्याय था। उससे पहले सावरकर-मार्का हिंदुत्ववादियों ने पांच बार महात्मा गांधी की हत्या के प्रयास किए और हर बार विफल हुए। हम उन घटनाओं में उतरें तो यह भी पता चलेगा कि इनमें से किसी भी प्रयास के बाद हमें गांधीजी की कोई प्रतिक्रिया नहीं मिलती है। मृत्यु और उसके भय की तरफ मानो उन्होंने अपनी पीठ कर दी थी।

गांधीजी की जान लेने की जितनी कोशिशें दक्षिण अफ्रीका में हुई – हमें ध्यान रखना चाहिए कि वहां हिंदू-मुसलमान का याकि किसी सुहरावर्दी का याकि 55 करोड़ का कोई मसला नहीं था- उनमें से कुछ का जिक्र पिछले पन्नों में आपने जेम्स डगलस की जबानी पढ़ा। डरबन से प्रीटोरिया जाते हुए ट्रेन से उतार फेंकने की घटना हो या चार्ल्सटाउन से जोहानिसबर्ग के बीच की घोड़ागाड़ी की यात्रा में हुई बेरहम पिटाई का वाकया, दोनों में उनका अपमान-भर हुआ ऐसा नहीं था बल्कि दोनों ही प्रकरणों में उनका अंग भंग भी हो सकता था, जान भी जा सकती थी। चार्ल्सटाउन से जोहानिसबर्ग के बीच की यात्रा के बारे में उन्होंने आत्मकथा में लिखा है कि “मुझे ऐसा लगने लगा था कि मैं अब अपनी जगह पर जिंदा नहीं पहुंचूंगा।” लेकिन वे अपनी जगह पर जिंदा पहुंचे और इन सब घटनाओं के बीच ही कभी, कहीं उन्हें उस कीड़े ने काटा जिसने उनकी जिंदगी का रंग व ढंग, दोनों बदल दिया।

जानकारी के अभाव में या किसी आंतरिक कालिमा के प्रभाव में कुछ लोगों को लगता है कि गांधीजी की अहिंसा की बात एकदम कागजी थी, क्योंकि उन्होंने क्रूर हिंसा का या मौत का सीधा सामना तो कभी किया ही नहीं ! ऐसे लोगों को भी और हम सबको भी जानना चाहिए कि किसी को मारने की कोशिश में अपनी मौत का आ जाना और खुद आगे बढ़कर मौत का सामना करना, दो एकदम भिन्न बातें है। पहली कोटि में गांधीजी कहीं मिलते नहीं हैं; दूसरी कोटि में झांकने का भी साहस हममें है नहीं। इसलिए हमें इतिहास का सहारा लेना पड़ता है।

गांधीजी की संघर्ष-शैली ऐसी थी कि जिसमें हिंसा या हमला था ही नहीं, इसलिए जीत या हार भी नहीं थी। वे वैसा रास्ता खोज रहे थे जिसमें लड़ाई तो हो, कठोर व दुर्धर्ष हो लेकिन उससे सामने वाला खत्म न हो, साथ आ जाए। वे अपने-से असहमत लोगों को साथ लेकर अपनी फौज खड़ी करने में जुटे थे- फिर चाहे वे जनरल स्मट्स हों कि रानी एलिजाबेथ कि रवींद्रनाथ ठाकुर कि आंबेडकर कि जिन्ना कि जवाहरलाल नेहरू ! हमें सदियों से, पीढ़ी-दर-पीढ़ी सिखाया तो यही गया है न कि दुश्मन से न समझौता, न दोस्ती ! लैकिन यहां भाई गांधी ऐसे हैं कि जो किसी को अपना दुश्मन मानते ही नहीं हैं। तुमुल संघर्ष के बीच भी उनकी सावधान कोशिश रहती थी कि सामने वाले को ज्यादा संवेदनशील बनाकर कैसे अपने साथ ले लिया जाए।

वह प्रसंग याद करने लायक है। दूसरे गोलमेज सम्मेलन के दौरान लंदन के बिशप गांधीजी से मिले। मुलाकात के दौरान गांधीजी का चरखा कातना चलता ही रहता था। उस दिन भी वैसा ही था। बिशप चाहते होंगे कि गांधीजी सारा काम छोड़ कर उनसे ही बात करें। इसलिए पहुंचते-ही-पहुंचते बिशप ने अपना दार्शनिक तीर चलाया: मिस्टर गांधी, प्रभु जीसस ने कहा है कि अपने दुश्मन को भी प्यार करो !

आपका इस बारे में क्या कहना है ? गांधीजी की चरखे में निमग्नता नहीं टूटी। जवाब भी नहीं आया और सूत भी नहीं रुका, तो बिशप को लगा कि शायद मेरा सवाल सुना नहीं ! सो फिर थोड़ी ऊंची आवाज में अपना सवाल दोहराया। अब गांधीजी का हाथ भी रुका, सूत भी; और वे बोलेः "आपका सवाल तो मैंने पहली बार में ही सुन लिया था। सोचने में लगा था कि मैं इस बारे में क्या कहूं, मेरा तो कोई दुश्मन ही नहीं है !... बिशप अवाक् उस आदमी को देखते रह गए, जो फिर से चरखा कातने में निमग्न हो चुका था।.... लेकिन जो किसी को अपना दुश्मन नहीं मानता है उसे इसी कारण दुश्मन मानने वाले तो होते ही हैं।

1915 में गांधीजी दक्षिण अफ्रीका छोड़ कर, फिर वापस न जाने के लिए भारत आ गए। उस दिन से 30 जनवरी 1948 को मारे जाने के बीच, उनकी सुनियोजित हत्या की पांच कोशिशें हुईं।

पहली कोशिश : 1934 : तब पुणे हिंदुत्व का गढ़ माना जाता था। पुणे की नगरपालिका ने महात्मा गांधी का सम्मान समारोह आयोजित किया था और उस समारोह में जाते वक्त उनकी गाड़ी पर बम फेंका गया। नगरपालिका के मुख्य अधिकारी और पुलिस के दो जवानों सहित सात लोग गंभीर रूप से घायल हुए। हत्या की यह कोशिश विफल इसलिए हुई कि जिस गाड़ी पर यह मान कर बम डाला गया था कि इसमें गांधीजी हैं, दरअसल गांधीजी उसमें नहीं, उसके पीछे वाली गाड़ी में थे। चूक हत्या की योजना बनाने वालों से ही नहीं हुई, उनसे भी हुई जिन्हें इस षड्यंत्र का पर्दाफाश करना था। मामला वहीं-का-वहीं दबा दिया गया।

दूसरी कोशिश : 1944 : आगाखान महल की लंबी कैद में अपने पुत्रवत् महादेव देसाई व अपनी बा को खो कर गांधीजी जब रिहा किए गए तो वे बीमार भी थे और बेहद कमजोर भी। इसलिए तय हुआ कि बापू को अभी तुरंत राजनीतिक गहमागहमी में न डाल कर, कहीं शांत-एकांत में आराम के लिए ले जाया जाए। इसलिए उन्हें पुणे के निकट पंचगनी ले जाया गया। पुणे के नजदीक बीमार गांधीजी का ठहरना हिंदुत्ववादियों को अपने शौर्य प्रदर्शन का अवसर लगा और वहां पहुंचकर वे लगातार नारेबाजी, प्रदर्शन करने लगे। फिर 22 जुलाई को ऐसा भी हुआ कि एक युवक मौका देखकर गांधीजी की तरफ छुरा लेकर झपटा। लेकिन भिसारे गुरुजी ने बीच में ही उस युवक को दबोच लिया और उसके हाथ से छुरा छीन लिया। गांधीजी ने उस युवा को छोड़ देने का निर्देश देते हुए कहा कि उससे कहो कि वह मेरे पास आकर कुछ दिन रहे ताकि मैं जान सकूं कि उसे मुझसे शिकायत क्या है। वह युवक इसके लिए तैयार नहीं हुआ। उस युवक का नाम था नाथूराम गोडसे।

तीसरी कोशिश : 1944 : 1944 में ही तीसरी कोशिश की गई ताकि पंचगनी की विफलता को सफलता में बदला जा सके। इस बार स्थान था वर्धा स्थित गांधीजी का सेवाग्राम आश्रम। पंचगनी से निकलकर गांधीजी फिर से अपने काम में डूबे थे। विभाजन की बातें हवा में थीं और मुहम्मद अली जिन्ना उसे सांप्रदायिक रंग देने में जुटे थे। सांप्रदायिक हिंदू भी मामले को और बिगाड़ने में लगे थे। गांधीजी इस पूरे सवाल पर मुहम्मद अली जिन्ना से सीधी बातचीत की योजना बना रहे थे और यह तय हुआ कि गांधीजी मुंबई जाकर जिन्ना से मिलेंगे।

गांधीजी के मुंबई जाने की तैयारियां चल रही थीं कि तभी सावरकर-टोली ने घोषणा कर दी कि वे किसी भी सूरत में गांधीजी को जिन्ना से बात करने मुंबई नहीं जाने देंगे। पुणे से उनकी एक टोली वर्धा आ पहुंची और उसने सेवाग्राम आश्रम घेर लिया। वे वहां से नारेबाजी करते, आने-जाने वालों को परेशान करते और गांधीजी पर हमला करने का मौका खोजते रहते। पुलिस का पहरा था। गांधीजी ने बता दिया कि वे नियत समय पर मुंबई जाने के लिए आश्रम से निकलेंगे और विरोध करने वाली टोली के साथ तब तक पैदल चलते रहेंगे जब तक वे उन्हें मोटर में बैठने की इजाजत नहीं देते। गांधीजी की योजना जान कर पुलिस सावधान हो गई: ये उपद्रवी तो चाहते ही हैं कि गांधीजी कभी उनकी भीड़ में घिर जाएं। पुलिस के पास खुफिया जानकारी थी कि ये लोग कुछ अप्रिय करने की तैयारी में हैं। इसलिए उसने ही कदम बढ़ाया और उपद्रवी टोली को गिरफ्तार कर लिया। सबकी तलाशी ली गई तो इस टोली के सदस्य ग.ल. थत्ते के पास से एक बड़ा छुरा बरामद हुआ। युवाओं का वर्धा पहुंचना, उनके साथ ही राष्ट्रीय स्वंयसेवक संघ के निर्माताओं में से एक माधवराव सदाशिव गोलवलकर का अचानक वर्धा आगमन और यह छुरा- सब मिलकर एक ही कहानी कहते हैं- जिस तरह भी हो, गांधी का खात्मा करो !

चौथी कोशिश : 1946 : पंचगनी और वर्धा की विफलता से परेशान होकर इन लोगों ने तय किया कि गांधीजी को मारने के क्रम में कुछ दूसरे भी मरते हों तो मरें। इसलिए 30 जून को उस रेलगाड़ी को पलटने की कोशिश हुई जिससे गांधीजी मुंबई से निकलकर पुणे जा रहे थे। करजत स्टेशन के पास पहुंचते-पहुंचते रात गहरी हो चली थी लेकिन सावधान ड्राइवर ने देख लिया कि ट्रेन की पटरियों पर बड़े-बड़े पत्थर डाले गए हैं ताकि गाड़ी पलट जाए। इमर्जेंसी ब्रेक लगाकर ड्राइवर ने गाड़ी रोकी। जो नुकसान होना था वह इंजन को हुआ, गांधीजी बच गए। अपनी प्रार्थना सभा में गांधीजी ने इसका जिक्र करते हुए कहा, "मैं सात बार मारने के ऐसे प्रयासों से बच गया हूं। मैं इस प्रकार मरने वाला नहीं हूं। मैं तो 125 साल जीने की आशा रखता हूं।" पुणे से निकलने वाले अखबार 'हिंदू राष्ट्र' के संपादक ने जवाब दिया, "लेकिन आपको इतने साल जीने कौन देगा !" अखबार के संपादक का नाम था- नाथूराम गोडसे !

पांचवीं कोशिश : 1948 : पर्दे के पीछे लगातार षड्यंत्रों और योजनाओं का दौर चलता रहा। सावरकर अब तक की अपनी हर कोशिश की विफलता से खिन्न भी थे और अधीर भी ! लंदन में धींगरा जब हत्या की ऐसी ही एक कोशिश में विफल हुए थे, तब भी सावरकर ने उन्हें आखिरी चेतावनी दी थी, "अगर इस बार भी विफल रहे तो फिर मुझे मुंह न दिखाना !" हत्या सावरकर के तरकश का आखिरी नहीं, जरूरी हथियार था। इसका कब और किसके लिए इस्तेमाल करना है यह फैसला हमेशा उनका ही होता था।

गांधीजी अपनी हत्या की इन कोशिशों का मतलब समझ रहे थे लेकिन वे लगातार एक-से-बड़े-दूसरे खतरे में उतरते भी जा रहे थे। उनके पास निजी खतरों का हिसाब लगाने का वक्त नहीं था; और खतरों में उतरने के सिवा उनके पास विकल्प भी नहीं था। खतरों में वह सत्य छिपा था जिसकी उन्हें तलाश भर नहीं थी बल्कि जिसे उन्हें देश व दुनिया को दिखाना भी था कि जान देने के साहस में से अहिंसा शक्ति भी पाती है और स्वीकृति भी। हत्यारों में इतनी हिम्मत थी ही नहीं कि वे भी उन खतरों में उतरकर गांधीजी का मुकाबला करते। इस लुका-छिपी में ही कुछ वक्त निकल गया।

इस दौर में सांप्रदायिकता के दावानल में धधकते देश की रंगों में क्षमा, शांति और विवेक का भाव भरते एकाकी गांधी कभी यहां, तो कभी वहां भागते मिलते हैं। पंजाब जाने के रास्ते में वे दिल्ली पहुंचे हैं और पाते हैं कि दिल्ली की हालत बेहद खराब है। अगर दिल्ली हाथ से गई तो आजाद देश की आजादी भी दांव पर लग सकती है ! गांधीजी दिल्ली में ही रुकने का फैसला करते हैं- तब तक जब तक हालात काबू में नहीं आ जाते। इधर गांधीजी का फैसला हुआ, उधर सावरकर-टोली का फैसला भी हुआ ! गांधीजी ने कहाः मैं दिल्ली छोड़कर नहीं जाऊंगा; सावरकर-टोली ने कहाः हम आपको दिल्ली से जिंदा वापस निकलने नहीं देंगे ! स्थान गांधीजी का था- बिरला भवन- और बम सावरकर-टोली का।

बिरला भवन में, रोज की तरह उस रोज भी, 20 जनवरी की शाम को भी प्रार्थना थी। 13 से 19 जनवरी तक गांधीजी का आमरण उपवास चला था। उसकी पीड़ा ने प्रायश्चित जगाया और दिल्ली में चल रही अंधाधुंध हत्याओं व लूट-पाट पर कुछ रोक लगी। सभी समाजों, धर्मों, संगठनों ने गांधीजी को वचन दिया कि वे दिल्ली का मन फिर बिगड़ने नहीं देंगे। ऐसा कहने वालों में सावरकर-टोली भी शामिल थी, जो उसी वक्त हत्या की अपनी योजना पर भी काम कर रही थी। गांधीजी अपनी क्षीण आवाज में इन सारी बातों का ही जिक्र कर रहे थे कि मदनलाल पाहवा ने उन पर बम फेंका। बम फटा भी लेकिन निशान चूक गया। जिस दीवार की आड़ से उसने बम फेंका था उससे, गांधीजी जहां बैठे थे, उसकी दूरी का उसका अंदाजा गलत निकला। गांधीजी फिर बच गए। बमबाज मदनलाल पाहवा विभाजन का शरणार्थी था। वह पकड़ा भी गया। लेकिन जिन्हें पकड़ना था, उन्हें तो किसी ने पकड़ा ही नहीं।

छठी सफल कोशिश : 30 जनवरी 1948 : दस दिन पहले जहां मदनलाल पाहवा विफल हुआ था, दस दिन बाद वहीं नाथूराम गोडसे सफल हुआ। प्रार्थना-भाव में मग्न अपने राम की तरफ जाते गांधीजी के सीने में उसने तीन गोलियां उतार दी और 'हे राम !' कह गांधीजी वहां चले गए जहां से कोई वापस नहीं आता है।

* * *

- जो राजा प्रजा की बात सुनने को तैयार ही नहीं है, जिस राजा की प्रजा के लिए पीने को दूध नहीं है, खाने को भोजन नहीं है, पहनने को वस्त्र नहीं, जो राजा बिना संकोच लोगों की हत्या करता है, उस राजा की प्रजा दीवाली कैसे मना सकती है ?
- यदि मैं अंग्रेजों के प्रति तनिक भी अन्याय करता होऊं तो मैं अपनी भूल स्वीकार करने को तैयार हूं। उस भूल के लिए क्षमा / मांगना भी मैं अपना धर्म समझूंगा |
- जिस कसौटी पर मैं ब्रिटिश राज को कसना चाहता हूं, उसी कसौटी पर किसी भी भारतीय राजा को कसना चाहूँगा, बल्कि भारतीय राजा को मैं और भी कठिन कसौटी पर कसना चाहूंगा।
- हिंदुस्तान के लोग पतित और कायर हो गये हैं | इनमें आज जिस तरह की कायरता के दर्शन होते हैं ऐसी कायरता किसी दूसरे शासन-काल में नहीं थी, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है।
- यह कायरता अनायास ही नहीं आई है बल्कि वह जान-बुझ कर लोगों के दिलों में पैदा की गई है।
- इसी कारण इस राज्य को मैं रावण-राज्य मानता हूं। हमें जैसा राज्य चाहिए उसे मैं रामराज्य कहता हूं और रामराज्य तो स्वराज्य ही हो सकता है !

नवजीवन, 31.10.1920 (दीवाली से ठीक पहले)

* * * * *

“असत्य की शक्तियां समाज के सच न बोल पाने की कमजोरी का फायदा उठाती हैं और समाज को कायर, छल-कपट और धोखे से भरी भीड़ में बदल देती हैं ।... इसलिए सच कहने की चुनौती हमेशा बनी रहती है |”

- ***जेम्स डब्ल्यू. डगलस***